ISSN-0971-8397

# योजना

जनवरी 2014 विकास को समर्पित मासिक ₹10

## जनजाति एवं वंचित वर्ग

संवैधानिक प्रावधान, कानून और जनजाति
वर्जीनियस खाखा

आदिवासियों के लिये स्वशासन
राहुल बनर्जी

खाद्य विधेयक, वन्य आहार और आदिवासी
मधु रामनाथ

भूमि संयोजक
ग्रामीण भूमि प्रशासन में परिवर्तन का अग्रदूत
संजॉय पटनायक

विशेष आलेख
जलवायु परिवर्तन और प्रशासनिक तैयारी
सुभाष शर्मा

# जनजातीय विकास के पांच मूलभूत सिद्धांत

- लोगों को अपनी प्रतिभा के अनुरूप विकसित होने का अवसर प्रदान किया जाना चाहिए और हमें उन पर कोई चीज थोपने से बचना चाहिए। हमें हर तरह से उन्हें प्रोत्साहित करने की कोशिश करनी चाहिए ताकि वे अपनी परंपरागत कलाओं और संस्कृति का संवर्धन कर सकें।
- भूमि और वनों से संबंधित जनजातीय अधिकारों का सम्मान किया जाना चाहिए।
- हमें उनके अपने लोगों की एक टीम बनाने और उसे प्रशिक्षित करने का प्रयास करना चाहिए ताकि वे प्रशासन और विकास के कार्य कर सकें। बाहर के कुछ तकनीकी कार्मिक, विशेष कर शुरू में, निश्चित रूप से आवश्यक होंगे, लेकिन हमें जनजातीय क्षेत्र में बाहर के बहुत अधिक लोगों को शामिल करने से बचना चाहिए।
- हमें इन क्षेत्रों को अति–प्रशासित या अधिसंख्य कार्यक्रमों से सराबोर नहीं करना चाहिए। हमें उनके स्वयं के सामाजिक और सांस्कृतिक संस्थानों के माध्यम से काम करना चाहिए न कि उनकी प्रतिद्वंद्विता के साथ।
- हमें परिणामों का आकलन आंकड़ों के जरिये या खर्च की गई धनराशि के रूप में नहीं, बल्कि मानव चरित्र की गुणवत्ता के विकास के रूप में करना चाहिए।

नई दिल्ली
9 अक्तूबर, 1958
जवाहरलाल नेहरू

(वेरियर एल्विन की पुस्तक 'ए फिलॉसफी फॉर नेफा' के द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना से उद्धृत)

# योजना

वर्ष 58 ● अंक 1 ● जनवरी 2014 ● माघ–पौष, शक संवत 1935 ● कुल पृष्ठ 56



प्रधान संपादक
**राजेश कुमार झा**

वरिष्ठ संपादक
**रेमी कुमारी**

**संपादकीय कार्यालय**
538, योजना भवन, संसद मार्ग,
नयी दिल्ली–110 001
दूरभाष : 23717910, 23096738
टेलीफैक्स : 23359578
ई–मेल : yojanahindi@gmail.com
वेबसाइड : www.yojana.gov.in
www.publicationsdivision.nic.in

संयुक्त निदेशक (उत्पादन)
**वी. के. मीणा**

व्यापार व्यवस्थापक (प्रसार एवं विज्ञापन)
**सूर्यकांत शर्मा**

दूरभाष : 26100207
फैक्स : 26175516
ई–मेल : pdjucir@gmail.com

आवरण : **जी. पी. धोपे**


## इस अंक में


| | | |
|---|---|---|
| संपादकीय | – | 5 |
| संवैधानिक प्रावधान कानून और जनजातियां | वर्जीनियस खाखा | 7 |
| नयी रोशनी की तलाश में घुमंतू जनजातियां | अरविंद कुमार सिंह | 11 |
| आदिवासियों के लिये स्वशासन | राहुल बनर्जी | 17 |
| खाद्य विधेयक, वन्य आहार और आदिवासी | मधु रामनाथ | 21 |
| शोध यात्राः ऐसा यात्री बैग जिस पर आप बैठ भी सकते हैं | – | 23 |
| क्या आप जानते हैं? इस्लामिक बैंकिंग क्या है? | – | 24 |
| जलवायु परिवर्तन और प्रशासनिक तैयारी | सुभाष शर्मा | 25 |
| आदिवासी साहित्य और समाज | गंगा सहाय मीणा | 30 |
| भूमि संयोजक– ग्रामीण भूमि प्रशासन में परिवर्तन का अग्रदूत | संजॉय पटनायक | 34 |
| विकास की अवधारणा और जनजातियों का स्वास्थ्य | नूतन मौर्या | 38 |
| नवउदारवाद के दौर में जनजातियां | रहीस सिंह | 42 |
| बुनियादी सुविधाएं और आदिम समाज | ज्योत्सना राय | 45 |
| परिवर्तन के लिए सांस्कृतिक क्रांति का प्रभाव आवश्यक | अनिल चमड़िया | 47 |
| झारखंड की जनजातियां | मधुकर | 49 |
| पूर्वोत्तर में जनजाति एवं वंचित वर्ग | रजनीश मिश्र | 51 |



योजना हिंदी के अतिरिक्त असमिया, बांग्ला, अंग्रेजी, गुजराती, कन्नड़, मलयालम, मराठी, उड़िया, पंजाबी, तेलुगु तथा उर्दु भाषाओं में भी प्रकाशित की जाती है। पत्रिका मंगवाने हेतु, नयी सदस्यता, नवीकरण, पुराने अंको की प्राप्ति एवं एजेंसी आदि के लिए मनीआर्डर/डिमांड ड्राफ्ट/पोस्टल आर्डर 'अपर महानिदेशक, प्रकाशन विभाग'के नाम से बनवा कर निम्न पते पर भेजें। व्यापार व्यवस्थापक (प्रसार एवं विज्ञापन), प्रकाशन विभाग, पूर्वी खंड IV, तल VII, आर. के. पुरम, नयी दिल्ली–66 दुरभाष : 26100207, 26105590 तार : सूचनाप्रकाशन।

सदस्य बनने अथवा पत्रिका मंगाने के लिए आप हमारे निम्नलिखित बिक्री केंद्रों पर भी संपर्क कर सकते हैं : सूचना भवन, सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड, नयी दिल्ली–110003 (दूरभाष : 24367260, 5610), हाल सं, 196, पुराना सचिवालय, दिल्ली–110054 (दूरभाष : 23890205) * 701, सी– विंग, सातवीं मंजिल, केंद्रीय सदन, बेलापुर, नवी मुंबई–400614 (दूरभाष : 27570686) * 8, एसप्लानेड, ईस्ट, कोलकाता–700069 (दूरभाष : 22488030), * 'ए' विंग, राजाजी भवन, बंसल नगर, चेन्नई–600090 (दूरभाष : 24917673) * प्रेस रोड नयी गवर्नमेंट प्रेस के निकट, तिरुअनंतपुरम–695001 (दूरभाष : 2330650) * ब्लॉक सं–4, पहला तल, गृहकल्प, एमजी रोड, नामपल्ली, हैदराबाद–500001 (दूरभाष : 24605383) * फर्स्ट फ्लोर, 'एफ' विंग, केंद्रीय सदन, कोरामंगला, बंगलुरु–560034 (दूरभाष : 25537244) * बिहार राज्य कोऑपरेटिव बैंक भवन, अशोक राजपथ, पटना–800004 (दूरभाष : 2683407) * हॉल सं–1, दूसरा तल, केंद्रीय भवन, सेक्टर–एच, अलीगंज, लखनऊ–226024 (दूरभाष : 2225455) * अंबिका कॉम्प्लेक्स, फर्स्ट फ्लोरख अहमदाबाद–380007 (दूरभाष : 26588669) के. के. बी. रोड, नयी कॉलोनी, कमान संख्या–7, चेनीकुटी, गुवाहाटी–781003 (दूरभाष : 2665090)

**चंदे की दरें : वार्षिकः ₹100 द्विवार्षिक : ₹180, त्रैवार्षिक : ₹ 250, विदेशों में वार्षिक दरें : पड़ोसी देश : ₹ 530, यूरोपीय एवं अन्य देश : ₹ 730। योजना में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार लेखकों के अपने है। जरूरी नहीं कि ये लेखक भारत सरकार के जिन मंत्रालयों, विभागों अथवा संगठनों से संबद्ध हैं, उनका भी यही दृष्टिकोण हो। पत्रिका में प्रकाशित विज्ञापनों की विषयवस्तु के लिए योजना उत्तरदायी नहीं हैं।**

# आपकी राय

## जल, जंगल, जमीन... और वायुतरंगे

*योजना* का नवंबर अंक पढ़ा। जल, जंगल, जमीन... और वायुतरंगे शीर्षक से संपादकीय पढ़कर देश की असल समस्या से न केवल सामना हुआ बल्कि उन कारणों का भी जिक्र सामने आया जिसके दम पर हम आने वाले कल की तस्वीर और स्वच्छ छवि बना सकतें हैं। हम भले हीं हैरान हो कि इतने बड़े देश में जहां प्रकृति ने दिल खोलकर अपनी संपदा मुनष्यों को दी वही आज बंटवारे का कारण बन गई। इनसान ने हर जगह अपना आधिपत्य जमा लिया है, लेकिन हवा और पानी को बांटना बाकी है, अब अगला विश्व युद्ध निश्चय हीं पानी के लिए होगा। 'अनुकरणीय पहल', 'जैविक सपने', 'सुधार एजेंडें से गरीबी उन्मूलन' जैसी प्रस्तुति ने भी ध्यान खींचा।

**छैलबिहारी शर्मा इन्द्र**
**छाता, उ. प्र.**

## संग्रहणीय अंक

*योजना* का नवंबर 2013 अंक दृष्टिगत हुआ। अंक का स्तर और रूप मोहक अंक भूमि एवं प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग, संरक्षण–संवर्धन ,जल उपलब्धता, जल संसाधन, वितरण, भूमि अधिग्रहण, पुनर्वास, जैव संरक्षण तथा औद्योगीकरण आदि विषयों से सुसज्जित है जो हमारे और राष्ट्र के जीवन के आधारभूत हैं और जो लोक राष्ट्र को जागृत करने वाले हैं। संपादकीय, जल, जंगल, जमीन की अनन्य महत्ता, संरक्षण, समुचित उपयोग आदि की विशिष्ट विवेचना करता है और हमें वेद मंत्रों *ओम शांति वनस्पतयः* की याद दिलाता है। मिहिर शाह का आलेख, 12वीं पंचवर्षीय योजना में जल क्षेत्र में नयी शुरुआत, पेयजल दशा, जल कानून आदि बातों का विवरण प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार मैत्रीश घटक, घोष एवं मुखर्जी का लेख, 'भारत की भूनीति में सुधार', का तथ्यपरक विवेचन पेश करता है। ऊर्जा सुरक्षा, भू–संरक्षण जैसे अन्य महत्वपूर्ण प्रकरणों पर विमर्श, अंक को और अधिक उपयोगी बना रहा है। भूमि अधिग्रहण, प्रकृति के उपकृत सरीखे विषयों पर विमर्श अंक को न केवल उपयोगी सिद्ध करते हैं, अपितु ये समाज को इनके संरक्षण के लिए विशेष उपायों से भी अवगत कराते हैं।

अंक अपनी वस्तु विवेचना, उनकी नियोजना, सुरुचिपूर्ण सज्जा–मुद्रण के कारण सुधी पाठकों के लिए न केवल रुचिकर, वरण संग्रहणीय भी बन गया है। अस्तु संपादक मंडल को बधाई है।

**गौरी शंकर पाण्डेय 'अरविंद'**
**शास्त्री नगर, फैजाबाद**

## वन महत्वपूर्ण संसाधन

*योजना* का नवंबर अंक पढ़ा जिससे हमें मूल्यवान और विवरणात्मक जानकारी प्राप्त हुई। लेखक मिहिर शाह, मैत्रीश घटक, परीक्षित घोष, दिलीप मुखर्जी, एस. सी. त्रिपाठी, पी. वी. राजगोपाल, अरुण तिवारी, योगेश के. द्विवेदी आदि के आलेख काफी ज्ञानवर्धक, ज्ञानोपयोगी और महत्वपूर्ण जानकारियों से भरपूर हैं। अन्य लेखकों के लेख भी काफी अच्छे लगे। प्राकृतिक संसाधनों में भूमि, जल और वन महत्वपूर्ण संसाधन है।

भारत में 19 प्रतिशत भूमि वनों के अंतर्गत आती है।1951 में यह क्षेत्र लगभग 75 मिलियन हेक्टेयर था जो देश के कुल क्षेत्रफल का लगभग 23 प्रतिशत था। वर्ष 1959 के पश्चात वन का क्षेत्रफल लगातार घटता रह गया। संरक्षण से संबंधित योजनाओं के लागू किए जाने के बावजूद वनों के क्षेत्रफल में लगातार ह्रास हो रहा है। देश की वन संबंधी नीति के अनुसार देश के कुल क्षेत्रफल का 33 प्रतिशत वनों के अंतर्गत होना चाहिए देश के विभिन्न भागों में वनों के अंतर्गत क्षेत्र में काफी अंतर पाया जाता है। जहां अंडमान–निकोबार में वन भूमि के कुल क्षेत्र का 90 प्रतिशत है, हरियाणा में यह केवल 10 प्रतिशत है, अरुणाचल प्रदेश, मिज़ोरम, जम्मू और कशमीर, त्रिपुरा तथा हिमाचल प्रदेश में यह अनुपात लगभग 60 प्रतिशत है।

यद्यपि भारत में लगभग 750 लाख हेक्टेयर भूमि वनों के अंतर्गत आती है, इस भूमि का लगभग आधा भाग ही सघन वनों के रूप में

आच्छादित है। इस प्रकार प्रतिव्यक्ति उत्पादक वन क्षेत्र केवल 0.05 हेक्टेयर है। बढ़ती जनसंख्या की मांगों को पूरा करने के लिए वनों को निरंतर काटा जा रहा है। अनेक क्षेत्रों में वनों का पूर्ण विनाश हो चुका है। वनों को संरक्षित करने के लिए भारत सरकार और राज्य सरकार ने कई अलग–अलग कानून बनाएं हैं। कानून बनने के बावजूद वनों का ह्रास जारी है। वनों के ह्रास से पर्यावरण और मानव पर काफी प्रतिकूल असर पड़ रहा है।

देश में वनों के विस्तार को बढ़ाने के लिए किए गए अन्य प्रयासों में सामाजिक वानिकी कार्यक्रम काफी महत्वपूर्ण है। यह कार्यक्रम छठी पंचवर्षीय योजना में आरंभ किया गया था। इसका उद्देश्य जनसाधारण को वनारोपण कार्यक्रम के साथ जोड़ना था ताकि स्थानीय समुदायों की लकड़ी, इंधन व चारे की मांग की पूर्ति इस कार्यक्रम के अंतर्गत लगाए गए वृक्षों से की जा सके। जिन क्षेत्रों में वनस्पति का ह्रास हो रहा था, इस योजना के अंतर्गत इन क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर वनारोपण किया गया।

**शशि शेखर श्रीवास्तव**
**डेवढ़ी, सारण, बिहार**

## रुचि का विषय

*योजना* का मैं 15 वर्षों से नियमित पाठक हूं। नवंबर अंक काफी रोचक व आकर्षण है, खास करके लेखक मिहिर शाह द्वारा लिखा गया लेख "12वीं पंचवर्षीय योजना में जल क्षेत्र में नयी शुरुआत" में प्रतिगामी बदलाव के 10 तत्व एवं राष्ट्रीय जल फ्रेमवर्क कानून के साथ ही साथ निष्कर्ष द्वारा हम सभी प्रतियोगी छात्र एवं छात्राओं को समझाने का कार्य किया गया है। जो वास्तव में काबिलेतारीफ है। इसी के साथ मैत्रीश घटक का लेख "भारत की भू–नीति में सुधार" भी ज्ञानवर्धक है। एस. सी. त्रिपाठी के विशेष आलेख में ऊर्जा सुरक्षा के संदर्भ में औद्योगिक क्रांति के बाद से ऊर्जा वृद्धि के विकल्प को समझाने का प्रयास भी अच्छा है। लेखक एम. ए. हक़ का आलेख, 'भू–क्षणर रोकथाम की आवश्यकता' में जिस प्रकार से रोचकता के साथ इसे समझाने का कार्य किया गया है वह भी काबिलेतारीफ है। पी. वी. राजगोपाल का आलेख 'भूमि सुधार एजेंडा से गरीबी उन्मूलन' अरुण तिवारी का आलेख, 'जल प्रबंधन में जवाबदारी की चुनौती', योगेश के. द्विवेदी, नृपेन्द्र पी राणा, एंटनिस सी., सिमिन्तिरस द्वारा लिखा गया आलेख 'ई–सरकारः संभावनाएं और चुनौतियां' भी अच्छा लगा। इसी तरह से कानून के क्षेत्र में लेखक देवेन्द्र उपाध्याय के लेख ने टिकाऊ विकास के लक्ष्यों के प्रति प्रतिबद्ध भूमि अधिग्रहण, पुनर्वास और पुनर्व्यवस्थापन विधेयक में विभिन्न विन्दुओं को दर्शाने का कार्य किया है। मानबर्धन कंठ का लेख 'प्रकृति रक्षति रक्षिता', नवनीत कुमार गुप्ता का लेख 'प्रकृति का उपहार मैंग्रोव वन', काफी रोचक है। पत्रिका का खास स्तंभ 'शोधयात्रा' मेरी रुचि का विषय है।

**सुजीत कुमार**
**एम. एस. कॉलोनी**
**उई बाजार, भागलपुर, बिहार**

## प्रकृति की अहमियत

*योजना* का नवंबर अंक पढ़ा। भूमि एवं प्राकृतिक संसाधन पर विशेष अंक काफी अच्छा व जागरूक करने वाला है। आलेख 'प्रकृति का उपहार–मैंग्रोव वन' में मैंग्रोव वनस्पति के बारे में काफी महत्वपूर्ण जानकारियां प्राप्त हुई। मैंग्रोव वनों का क्षेत्र, मैंग्रोव, वनों के संरक्षण, मैंग्रोव पेड़ों के अंकुरण की प्रक्रिया, मैंग्रोव वनों का पारिस्थितिकी तंत्र, मैंग्रोव वनों का घटता क्षेत्र, इन सभी बातों की जानकारी आलेख में दी गई है। 'प्रकृति रक्षति रक्षिताः' पढ़कर प्रकृति क्षेत्रों को हो रहे नुक़सानों की जानकारी प्राप्त हुई। विकास के नाम पर पर्यावरण में उपस्थित पेड़–पौधों, जीव–जंतुओं, वनस्पतियों, पशु–पक्षियों को कितना नुक़सान पहुंचा है, इसकी चर्चा भी इस आलेख में है। 'जैविक सपने' में जैविक खेती' के बारे में काफी अच्छी जानकारी दी गई है। जैविक खेती अपना कर कितना लाभ हो सकता है, इस बारे में भी बताया गया है। 'जल प्रबंधन में जवाबदेही की चुनौती', भूसंरक्षण रोकथाम की आवश्यकता, आदि लेख भी अच्छे हैं।

आज के दौर में विकास की अंधी दौड़ में हमारे पर्यावरण को बिगाड़ कर रख दिया है। जल, जंगल, जमीन, हवा कुछ भी हो विकास सभी प्राकृतिक चीज़ों को तेज़ी से लीलता चला जा रहा है। पहाड़ों का सीना चीरकर सड़कें व रेल मार्ग बनाए जा रहे हैं, पहाड़ों को काटा जा रहा है। पहाड़ों को काटकर बड़ी–बड़ी इमारतें बनाई जा रही हैं। बड़े–बड़े बांध पहाड़ों पर बनाए जा रहे हैं जिससे प्राकृतिक संसाधनों को भारी नुक़सान हो रहा है। पहाड़ों पर बढ़ती जनसंख्या वहां की आबोहवा को भी प्रभावित किया है। प्रकृति से छेड़छाड़ का नतीजा ही है, जो केदारनाथ क्षेत्र में भीषण तबाही आई और सैकड़ों लोग मारे गए। साथ ही करोड़ों की संपत्ती का नुक़सान हुआ। हम सबको पता है कि पानी हमारे लिए कितना जरूरी है, फिर भी आज पानी की क़ीमत कोई नहीं समझ रहा है, पानी का अंधाधुंध दोहन किया जा रहा है। दिल्ली में यमुना नदी, पश्चिमी उत्तर प्रदेश में काली नदी, हिंडन नदी यहां तक की जिसे हम मां कहकर पुकारते हैं गंगा नदी तक प्रदूषित हो चुकी है। शहरों और कारखानों का गंदा पानी इन नदियों को प्रदूषित कर रहा है। कई शहरों में तो भूमिगत जल पूरी तरह से प्रदूषित हो चुका है। खेती की जमीन लगातार घटती जा रही है। अधिक रासायनिक खादों के इस्तेमाल से खेती की ज़मीन के साथ–साथ फ़सलों पर भी ख़तरनाक असर हो रहा है। धरती के नीचे का जलस्तर लगातार घटता जा रहा है। अवैध खनन ने भी प्रकृति को भारी नुक़सान पहुंचाया है। इंसान मात्र लालच में इतना अंधा हो गया है कि वो अपना अच्छा–बुरा नहीं समझ पा रहा है। प्रकृति से ज्यादा छेड़–छाड़ हमेशा नुक़सानदायक साबित होता है। अगर हम अभी नहीं चेते, तो आनेवाले समय में कुछ भी नहीं बचेगा। ना ही जल, ना ही ताज़ी हवा, और ना ही खेती के लिए जमीन। अगर हमें अपना कल सुरक्षित करना है तो आज प्रकृति की और प्राकृतिक संसाधनों की अहमियत को जानते हुए इनकी सुरक्षा करनी होगी।

**महेन्द्र प्रताप सिंह**
**मेहरागांव, अल्मोड़ा**

# संघ/राज्य लोक सेवा आयोग (प्रारम्भिक) परीक्षा हेतु

## प्रथम प्रश्न-पत्र

1523 सिविल सेवा प्रा. परीक्षा सामान्य अध्ययन
1524 सिविल सेवा प्रा. परीक्षा सामान्य अध्ययनः हल प्रश्न–पत्र
847 भारत का इतिहास एवं भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन
849 भारतीय राजव्यवस्था एवं भारत का संविधान
A1076 भूगोल
850 विश्व एवं भारत का भूगोल
A1091 भारतीय अर्थव्यवस्था
851 भारतीय अर्थव्यवस्था
A1089 सामान्य विज्ञान
853 सामान्य विज्ञान
172 भारतीय कला एवं संस्कृति
A1090 पारिस्थितिकी, पर्यावरण, जैव–विविधता एवं विज्ञान–प्रौद्योगिकी
1393 सिविल सेवा प्रा. परीक्षा सामान्य अध्ययनः प्रैक्टिस वर्क-बुक

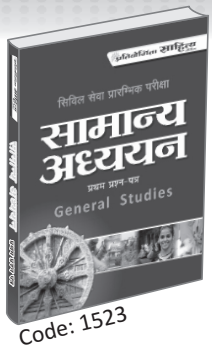

Code: 1523

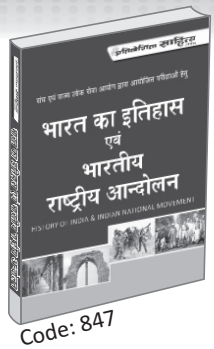

Code: 847

## द्वितीय प्रश्न-पत्र

A1077 सिविल सर्विसेज एप्टीट्यूड टेस्ट
A1080 तार्किक एवं विश्लेषणात्मक योग्यता
A1078 समंक व्याख्या एवं पर्याप्तता
A1096 मौलिक आंकिक योग्यता
852 सामान्य मानसिक योग्यता
766 सामान्य बुद्धि एवं तर्कशक्ति परीक्षण
A723 तर्कशक्ति परीक्षण
A939 सामान्य बुद्धि एवं तर्क परीक्षण

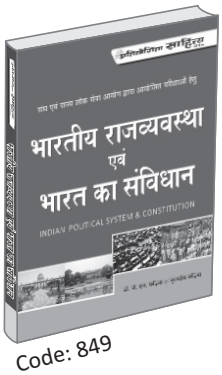

Code: 849

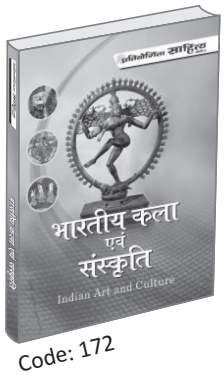

Code: 172

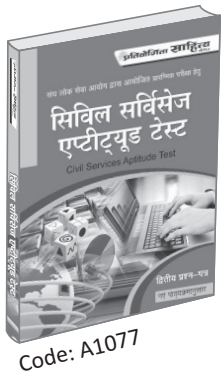

Code: A1077

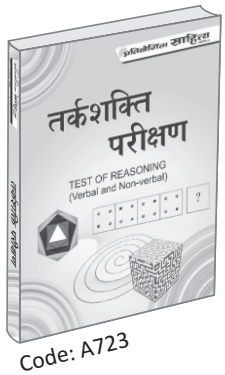

Code: A723

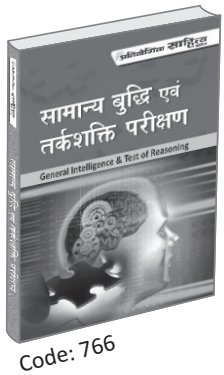

Code: 766

## मुख्य परीक्षा हेतु

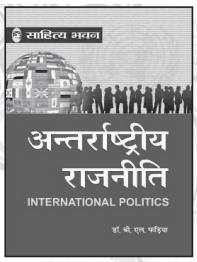

Code: 057

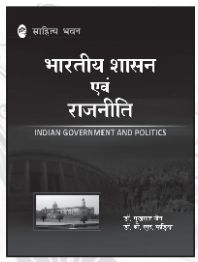

Code: 085

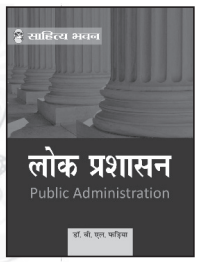

Code: 059

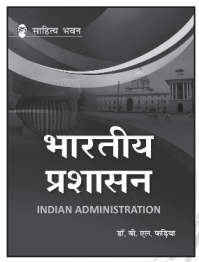

Code: 1333

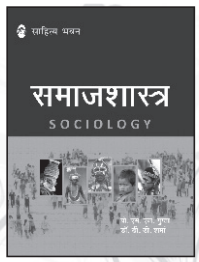

Code: 096

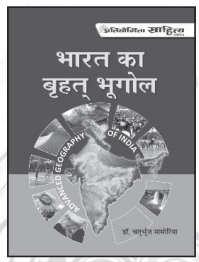

Code: 298

प्रतियोगिता साहित्य सीरीज

For More information Call : +91 89585 00222 info@psagra.in www.psagra.in


YH-230/2013

# संपादकीय

हम सभी जानते हैं कि जवाहरलाल नेहरू ने अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के संचालन के लिए पांच सिद्धांत तय किए थे, जिन्हें पंचशील के नाम से जाना जाता है। परंतु, इस बात को बहुत कम लोग जानते हैं कि नेहरू जी ने जनजातियों के विकास के लिए अन्य पांच बुनियादी सिद्धांत भी सुझाए थे। इन सिद्धांतों का वर्णन जाने–माने मानवशास्त्री वेरियर एलविन की पुस्तक *ए फिलॉसफी ऑफ नॉर्थ–इस्टर्न फ्रंटियर एरिया (नेफा)* की प्रस्तावना में नेहरू जी ने किया था। नेहरू जी एलविन का सम्मान करते थे और उनकी सराहना करते थे। जनजातीय विकास की नेहरूवादी परिकल्पना की बुनियाद भूमि और वन संसाधनों पर जनजातियों के अधिकारों की स्वीकृति पर आधारित थी।

उन्होंने जनजातियों पर बाहरी लोगों की विचारधारा और मूल्य थोपे जाने के प्रति आगाह किया था और यह सुझाव दिया था कि ''उन्हें अपनी प्रतिभा के अनुरूप विकसित होने'' की आज़ादी दी जानी चाहिए। इन सिद्धांतों में जनजातीय सामाजिक और सांस्कृतिक संस्थानों की स्वायतत्ता बनाए रखने और उसका सम्मान करने की आवश्यकता पर स्पष्ट रूप से बल दिया गया था। उनके ये विचार संविधान के अनुच्छेद 244 की भावना के अनुरूप हैं, जिसमें अनुसूचित जनजातियों की परंपरा एवं संस्कृति के संरक्षण और अनुसूचित क्षेत्रों की स्वायतत्ता बनाए रखने की व्यवस्था की गई है।

जनजातियों को समाज के हाशिए पर रखे जाने का इतिहास बहुत पुराना है। औपनिवेशिक काल में ऐसे अनेक कानून बनाए गए जो जनजातीय लोगों को भूमि, वन और अन्य प्राकृतिक संसाधनों से वंचित करते थे। 1927 के भारतीय वन अधिनियम के जरिये 'रेस नलियस' का सिद्धांत लागू किया गया, जिसका अर्थ यह था कि सरकार किसी भी ऐसी सम्पत्ति को अपने कब्जे में ले सकती थी जिसके लिए मालिक़ाना हक़ का कोई वैधानिक दस्तावेज प्रस्तुत न किया जा सके। इस सिद्धांत का इस्तेमाल करते हुए ब्रिटिश सरकार ने विस्तृत भू–भाग वन विभाग को सौंप दिए गए थे, जिसकी स्थापना इस कानून को लागू करने के लिए की गई थी। इसी प्रकार 'एमिनेंट डोमेन' के विधान ने सरकार को यह अधिकार प्रदान कर दिया था कि वह सार्वजनिक प्रयोजन के लिए किसी भी भूमि का अधिग्रहण कर सकती थी। इस कानून की उत्पत्ति 1894 के भूमि अधिग्रहण अधिनियम से हुई थी। भूमि और प्राकृतिक संसाधनों से जनजातियों के परंपरागत अधिकारों को छीने जाने के कारण इस कानून की व्यापक आलोचना की जाती रही है।

यह एक तथ्य है कि उद्योग लगाने, खनन कार्यों, बड़े बांधों के निर्माण जैसी विभिन्न विकास परियोजनाओं के लिए जनजातियों को विस्थापित और अधिकारों से वंचित किया जाता रहा है। कुछ अनुमानों के अनुसार देश में ऐसी विकासात्मक गतिविधियों को अंजाम देने के कारण करीब एक करोड़ जनजातियों को विस्थापित किया गया और उन्हें अपनी आजीविका गंवानी पड़ी। आधुनिक राष्ट्र राज्य वास्तव में 'अपने भूभागों को जटिल और अति–व्याप्त राजनीतिक और आर्थिक अंचलों में विभाजित करते हैं, लोगों और संसाधनों को इन इकाइयों में पुनर्वासित करते हैं और ऐसे नियम बनाते हैं जिनसे यह तय किया जाता है कि इन क्षेत्रों का इस्तेमाल कैसे और किन लोगों द्वारा किया जा सकता है'। बावजूद इसके आज देशज लोगों के अधिकारों की रक्षा और उनके सांस्कृतिक और आजीविका को बचाना राष्ट्र के बुनियादी दायित्व के रूप में स्वीकृत किया जा चुका है।

भारत में भी संविधान की पांचवीं और छठी अनुसूची जैसे प्रावधान हैं जो आदिवासियों को उनकी भूमि पर अधिकार की ऐतिहासिक गारंटी देते हैं। और जहां तक जनजातियों के अधिकारों का प्रश्न है, इन अनुसूचियों को 'संविधान के भीतर संविधान' समझा जाता है। पंचायत (अनुसूचित जाति विस्तार) अधिनियम (पेसा) जनजातीय लोगों को प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन और स्व–शासन के बारे में व्यापक अधिकार प्रदान करता है। वन अधिकार अधिनियम भी साझा संसाधनों पर सामुदायिक अधिकार प्रदान करता है। यह कानून वंचितों में भी अति वंचित लोगों को जीविका का अधिकार देने के साथ ही संरक्षण का दायित्व भी पूरा करने के दृष्टिकोण से बनाया गया है। हाल ही में बनाया गया भूमि अधिग्रहण अधिनियम अनुसूचित क्षेत्रों में स्थानीय स्व–शासन संस्थानों की सहमति के बिना भूमि के अधिग्रहण पर पाबंदी लगाता है और इस तरह हाशिए पर पड़े लोगों के भूमि पर अधिकार और आजीविका के मुद्दों के बारे में कुछ चिंताओं का समाधान करने का प्रयास करता है।

मार्शल सहलिन्स ने शिकार करने वालों, मूल निवासियों और देशज लोगों को 'मूल संपन्न समाज' की संज्ञा दी थी, जो सीमित और चंद आवश्यकताओं लेकिन गरिमापूर्ण जीवन के लिए आवश्यक पर्याप्त सामग्री के साथ 'समृद्धि के विशिष्ट क्षेत्र' में रहते हैं। इसके विपरीत समृद्धि का आधुनिक, पश्चिमी 'गलब्रेथियन मार्ग' सीमित साधनों के साथ मानव की असीमित आवश्यकताओं पर आधारित है। हमें यह अंतराल जनजातीय और वंचित तथा हाशिए पर रह रहे लोगों के कष्टों के जरिये पूरा करने की कोशिश नहीं करनी चाहिए क्योंकि लंबे समय तक जब्त किया गया आंसू हमारे चमकीले सपनों को दुःस्वप्नों मे बदल सकता है।

*योजना* के पाठकों को नववर्ष की अनेक शुभकामनाएं।

करियर लॉन्चर समाचार www.careerlauncher.com/civils

CL

# सिविल सेवा अभ्यर्थी

सिविल सेवा सूचना पत्र संख्या 00-2014 जनवरी 2013

## अपनी सफलता की संभावना को

# 6 गुना बढ़ायें*

### CSAT की तैयारी CL के साथ

पूरे भारत में कुल 3,17,962 अभ्यर्थियों में से 14,989 ने सिविल सेवा प्रारंभिक परीक्षा '13 उत्तीर्ण की है। यह सफलता दर लगभग 4.7% है, जबकि CL में यह दर 30.07% है – जो अप्रत्याशित रूप से देश की औसत सफलता दर से 6 गुना से भी अधिक है।

### 240 घंटों से भी अधिक का पाठ्यक्रम

| | | |
|---|---|---|
| $124^+$ घंटों का कक्षा प्रशिक्षण | $95^+$ घंटों की प्रिलिम्स टेस्ट सीरीज़ और विश्लेषण | $22^+$ मॉड्यूल टेस्ट और रीविज़न |

CL के 742 छात्र प्रधान परीक्षा 2013 के लिए योग्य पाये गये।

CL | Civil Services Test Prep

www.careerlauncher.com/civils

*CL के पास उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार

संपर्क करें – /CLRocks @careerlauncher

**मुखर्जी नगरः** 204/216, द्वितीय तल, विराट भवन/एमटीएनएल बिल्डिंग, पोस्ट ऑफिस के सामने, फोन – 011 41415241/46
**ओल्ड राजेंद्र नगरः** 18/1, प्रथम तल, अग्रवाल स्वीट कॉर्नर के सामने, फोन – 011 42375128/29
**बेर सरायः** 61बी, ओल्ड जे. एन. यू. कैम्पस के सामने, जवाहर बुक डिपो के पीछे, फोन – 011 26566616/17
**अहमदाबादः** 2656061, **इलाहाबादः** (0)9956130010, **पटनाः** 2678155, **लखनऊः** 4108009, **इन्दौरः** 4244300,
**भोपालः** 4093447, **जयपुरः** 4054623, **नागपुरः** 6464666, **वाराणसीः** 2222915, **गोरखपुरः** 2342251

YH-215/2013

# संवैधानिक प्रावधान, कानून और जनजातियां

• वर्जीनियस खाखा

भारत में जनजातियों की परिकल्पना मुख्य रूप से वृहत भारतीय समाज से उनके भौगोलिक और सामाजिक अलगाव के रूप में की जाती है और इसमें उनके सामाजिक रूपांतरण के चरण को ध्यान में नहीं रखा जाता है। यही वजह है कि सामाजिक रूपांतरण के विभिन्न स्तरों पर समूहों और समुदायों का एक विस्तृत दायरा जनजातियों के रूप में वर्गीकृत किया गया। इस तथ्य को देखते हुए कि जनजातियां बृहत्तर भारतीय समाज से पृथक रहती रही हैं, अपने परिवास के प्रदेश पर शासन में उनकी स्वायत्तता है। उनका भूमि, वन और अन्य संसाधनों पर नियंत्रण है और वे स्वयं के कानूनों, परंपराओं और रीति–रिवाजों से शासित हैं। औपनिवेशिक शासन के उद्भव ने जनजातियों और गैर–जनजातियों को एकल राजनीतिक और प्रशासनिक ढांचे के अंतर्गत खड़ा किया। उन्होंने इसके लिए युद्ध, फतह और कब्जा करने जैसे तरीकों का इस्तेमाल किया। इसके बाद नये और एक समान नागरिक तथा आपराधिक कानूनों की शुरुआत हुई और साथ ही एक ऐसा प्रशासनिक ढांचा कायम हुआ जो जनजातीय परंपरा और लोकाचार से भिन्न था।

इन सब घटनाओं की परिणति यह हुई कि बड़े पैमाने पर भूमि जनजातीय लोगों से गैर–जनजातीय लोगों के पास चली गई। इस प्रक्रिया में जालसाजी, बेईमानी, रेहन आदि तरीके अपनाए गए। इन सब बातों को देखते हुए राष्ट्रवादी नेतृत्व ने स्वतंत्रता–परवर्ती भारत में जनजातीय समुदायों पर विशेष ध्यान दिया। संविधान में उनके लिए शामिल किए गए प्रावधानों से इसकी पुष्टि होती है। स्वतंत्र भारत के नागरिकों के रूप में जनजातीय लोगों को अन्य नागरिकों के समान सिविल, राजनीतिक और सामाजिक अधिकार प्रदान किए गए। नागरिक और राजनीतिक अधिकार भारतीय संविधान में वर्णित मौलिक अधिकारों के दायरे में आते हैं, जबकि सामाजिक अधिकारों की व्यवस्था भारतीय संविधान के निर्देशक सिद्धांतों में की गई है।

ऊपर वर्णित प्रावधानों के अतिरिक्त, जनजातियों को विशिष्ट समुदाय के सदस्य के नाते कुछ विशेष अधिकार भी प्रदान किए गए हैं। ऐसे अधिकारों में अन्य बातों के अलावा, सांविधिक मान्यता (अनुच्छेद 342); संसद और राज्य विधानमंडलों में समानुपातिक प्रतिनिधित्व (अनुच्छेद 330 और 332); विशेष क्षेत्रों में सामान्य नागरिकों के मुक्त रूप से घूमने–फिरने या बसने अथवा संपत्ति अर्जित करने पर प्रतिबंध (अनुच्छेद 19 (5)); जनजातीय भाषाओं, बोलियों और संस्कृति आदि का संरक्षण (अनुच्छेद 29), जैसे प्रावधान शामिल हैं। संविधान में एक ऐसा खंड भी शामिल किया गया है जिसके अंतर्गत राज्य, जनजातीय समुदायों के लिए सामान्य आरक्षण के प्रावधान (अनुच्छेद 14 (4)) और विशेष रूप से, नौकरियों और नियुक्तियों में उनके लिए आरक्षण (अनुच्छेद 16 (4)) की व्यवस्था कर सकते हैं। संविधान में एक ऐसा निर्देशक सिद्धांत भी है जिसके अनुसार जनजातियों सहित समाज के कमजोर वर्गों के शैक्षिक और आर्थिक हितों को विशेष रूप से प्रोत्साहित (अनुच्छेद 46) किया जाना चाहिए। इसके अलावा संविधान (अनुच्छेद 244 और 244 (क)) की पांचवीं और छठी अनुसूची में ऐसे प्रावधान हैं जिनमें राज्य को यह अधिकार दिया गया है कि वह जनजातीय क्षेत्रों में विशेष प्रशासनिक व्यवस्था कर सकता है। संविधान में अनुसूचित और जनजातीय क्षेत्रों के निर्धारण का प्रावधान शामिल है ताकि संसद और राज्य विधानमंडलों में उन्हें प्रतिनिधित्व प्रदान किया जा सके। इसके अलावा जनजातीय समुदायों के लिए सरकारी सेवाओं में पदों का एक

निश्चित प्रतिशत और शैक्षिक संस्थानों में सीटों के आरक्षण के भी प्रावधान किए गए हैं। संक्षेप में, संविधान का उद्देश्य जनजातियों के हितों को सुरक्षित, संरक्षित और प्रोत्साहित करना है।

जनजातियो से संबंधित सभी प्रावधानों में उन्हें प्रदत्त संरक्षणात्मक वैशिष्ट्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण अधिकारों में से एक है। सरकार ने विशेष उपाय विकसित किए हैं ताकि संविधान में जनजातियों को प्रदान किए गए अधिकारों को लागू किया जा सके। अनुसूचित जनजाति श्रेणी से संबंध रखने वाले लोगों के लिए सरकारी, अर्द्धसरकारी संगठनों में नौकरियों में और शैक्षिक संस्थानों में 7.5 प्रतिशत आरक्षण प्रदान किया गया है। अनुसूचित जनजाति श्रेणी से संबद्ध उम्मीदवारों को प्रदान की गई रियायतें भी संरक्षणात्मक वैशिष्ट्य का एक रूप हैं। इन सभी प्रावधानों के बावजूद, नतीजे संतोषजनक नहीं रहे हैं। अनुसूचित जातियों की तुलना में अनुसूचित जनजातियों के संदर्भ में यह बात लागू होती है। फिर भी, आरक्षित कोटे को भरने में राज्य की अक्षमता को संविधान में वर्णित अधिकारों के उल्लंघन के रूप में नहीं समझा जाता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि सबसे पहले संविधान में वर्णित अधिकारों के अनुसरण में उपाय किए गए हैं। दूसरे इस श्रेणी के उम्मीदवारों के लिए आरक्षण का विस्तार स्वचालित नहीं है बल्कि, वह स्वयं संविधान में निर्धारित विभिन्न शर्तों पर निर्भर है। उदाहरण के लिए अनुच्छेद 335 में कहा गया है कि सेवाओं और पदों पर नियुक्तियों के संदर्भ में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के दावों पर विचार प्रशासन में सक्षमता बनाए रखने के अनुरूप किया जाना चाहिए। तीसरे, जनजातीय लोगों को जो अधिकार दिए गए हैं, वे उनका लाभ केवल जनजातीय समुदाय के सदस्यों के रूप में उठा सकते हैं। यह उनका व्यक्तिगत अधिकार है कि वे अन्य लोगों के समान अपनी पहुंच कायम कर सकें। यह अधिकार इस अर्थ में भी व्यक्तिगत है कि उसकी प्राप्ति सुनिश्चित करने के लिए व्यक्ति को कुछ कार्रवाई करनी होती है। ऐसे मुद्दों को देखते हुए अधिकारों को प्रदान करने में लापरवाही या उदासीनता को अदालत में चुनौती देने में राज्य के समक्ष एक कठिनाई नज़र आती है। भेदभाव या इंकार के केवल विशिष्ट मामलों को ही अदालत में ले जाया जा सकता है, लेकिन संविधान के अनुच्छेद 335 के प्रावधानों का सहारा लेकर उनसे बचा जा सकता है। संक्षेप में, संरक्षणात्मक वैशिष्ट्य के प्रावधान अपने आप में पर्याप्त नहीं हैं। कारगर बनाने के लिए, प्रावधान को मौलिक समानता यानी योग्यता, संसाधन और वास्तविक अवसर से संपूरित किया जाना चाहिए ताकि औपचारिक समानता या जनजातियों के मामले में संरक्षणात्मक वैशिष्ट्य को कारगर बनाया जा सके। इसका अर्थ यह है कि जनजातियों के लिए न केवल कानूनी या संवैधानिक प्रावधानों के जरिये आर्थिक और सामाजिक अधिकारों के प्रावधान किए जाने चाहिए, बल्कि कारगर कानूनी, प्रशासनिक, ढांचागत और वित्तीय सहायता के जरिये भी पूरक उपाय किए जाने चाहिए। जिन प्रावधानों के लिए किसी तरह की सहायता प्रणाली उपलब्ध कराई गई, उनके कुछ नतीजे जरूर सामने आए, भले ही वह सहायता प्रणाली अपर्याप्त रही हो। संरक्षणात्मक वैशिष्ट्य का प्रावधान इसी का उदाहरण है। किंतु, जहां ऐसे उपाय किए ही नहीं गए या वे अत्यंत प्रभावहीन रहे, वहां संविधान में किए गए प्रावधान जनजातीय लोगों के पक्ष में वांछित परिणाम हासिल नहीं कर पाए।

बात सिर्फ इतनी नहीं है कि जनजातियों के लिए कारगर सामाजिक–आर्थिक अधिकार विकसित और विस्तारित नहीं किए गए, बल्कि जो अधिकार उन्हें प्राप्त थे, जैसे भूमि और वन संबंधी अधिकार, वे भी शुरू में औपनिवेशिक शासन ने और स्वतंत्रता पश्चात् भारतीय राज्य ने, उनसे छीन लिए। यह एक सुस्थापित तथ्य है कि जनजातीय समुदाय मुख्य रूप से भीतरी भूमि और वनों में रहते हैं। फिर भी भूमि से अलगाव की जो प्रक्रिया ब्रिटिश शासन के दौरान शुरू हुई थी वह स्वतंत्रता के बाद में भी जारी रही। यह बात पहले कही जा चुकी है। गैर–जनजातीय लोगों द्वारा भूमि से अलग किए जाने की समस्या के समाधान के लिए जनजातीय आबादी वाले लगभग सभी राज्यों में कानून बनाए गए हैं। कुछ हिस्सों में ऐसे कानून ब्रिटिश शासन के समय से ही विद्यमान रहे हैं। छोटानागपुर (काश्तकारी अधिनियम) और संथाल परगना काश्तकारी अधिनियम 1940, इसके उदाहरण हैं। अंग्रेज़ों ने ऐसे उपाय जनजातीय लोगों के हितों के लिए नहीं किए थे बल्कि प्रशासनिक और राजनीतिक सुगमता के कारणों से ऐसा किया था। इन उपायों का उद्देश्य जनजातीय लोगों को भूमि हस्तांतरण से बचाना और गैर–जनजातीय आबादी के जनजातीय क्षेत्रों में फैलने पर रोक लगाना था।

स्वतंत्रता परवर्ती अवधि में जनजातीय आबादी वाले सभी राज्यों ने कानून बनाए, जिनका उद्देश्य न केवल जनजातीय समुदायों से गैर–जनजातीय समुदायों को भूमि का हस्तांतरण रोकना था बल्कि उनकी भूमि उन्हें वापस भी दिलाना था। कुछ राज्यों में गैर–जनजातीय लोगों के हितों के संरक्षण के लिए अधिनियमों में संशोधन भी किए गए। आंध्र प्रदेश (चुने हुए क्षेत्र) भूमि हस्तांतरण विनियम–1959, में 1970 में संशोधन किया गया। इसका उद्देश्य गैर–जनजातीय लोगों के हितों की रक्षा करना था। यहां तक कि केरल अनुसूचित जनजाति (भूमि हस्तांतरण का विनियमन और हस्तांतरित भूमि बहाल करना) अधिनियम 1975 जैसा कानून रद्द किया गया ताकि गैर–जनजातीय लोगों को रियायतें दी जा सकें (वर्मा 1990; राव 1996; बिजोय 1999)। इन कानूनों के बावजूद जनजातीय भूमि निरंतर गैर–जनजातीय लोगों के पास जा रही है।

जनजातीय समुदायों के संरक्षण के लिए संवैधानिक प्रावधानों को मज़बूत बनाने के लिए हाल के वर्षों में दो महत्वपूर्ण कानून बनाए गए हैं। इनमें पहला है – पंचायत प्रावधान (अनुसूचित क्षेत्रों में विस्तार) अधिनियम, 1996 । यह अधिनियम अनुसूचित जनजातियों को यह अधिकार प्रदान करता है कि वे अपनी परंपराओं और रीति–रिवाजों, सांस्कृतिक पहचान, सामुदायिक संसाधनों और ग्राम सभा के जरिये परंपरागत विवाद निपटान पद्धति को संरक्षित रख सकें। दिलचस्प बात यह है कि पंचायत अधिनियम के प्रावधान अक्षरशः अपना उपयुक्त स्थान नहीं प्राप्त कर सके, उदाहरण के लिए विभिन्न राज्यों द्वारा बनाए गए अधिनियमों में, छठी अनुसूची के पैटर्न के प्रावधान अलग–अलग हैं। इसके अलावा अनुसूचित क्षेत्रों में भाग 9ए (नगर पालिकाएं) का विस्तार करने के लिए कोई कानून नहीं बनाया गया, लेकिन अनुसूचित क्षेत्र रखने वाले सभी राज्यों में उन्हें निरंतर अपनाया गया है। इस बारे में अन्य कानून है – अनुसूचित जनजाति और अन्य परंपरागत वनवासी अधिनियम, 2006. इस अधिनियम का उद्देश्य जनजातीय लोगों के साथ सदियों से किए जा रहे अन्याय को समाप्त करना है। इसमें उनके पूर्व प्रचलित

अधिकारों को बहाल किया गया है और उन्हें फिर से मान्यता दी गई है। हालांकि कार्यान्वयन के संदर्भ में मान्यता और बहाली के प्रावधान कठिन दौर से गुज़र रहे हैं।

संविधान में निर्देशक सिद्धांतों के प्रावधानों के अंतर्गत राज्यों की सबसे बड़ी चिंता जनजातीय समुदायों के कल्याण और विकास से संबद्ध है। इन कार्यों को संवैधानिक प्रावधान के रूप में कार्यान्वित किया जाना था, जिन्हें अक्षरशः पांच सिद्धांतों (पंचशील) के रूप में वर्णित किया गया है। ये पंचशील वेरियर एल्विन द्वारा लिखित पुस्तक *ए फिलोसफी ऑफ नेफा* की भूमिका में नेहरू जी द्वारा बताए गए थे। उसके बाद से स्वतंत्रता परवर्ती भारत में इन पांच सिद्धांतों को जनजातीय विकास के लोकाचार के रूप में समझा जाने लगा। इन सिद्धांतों में जनजातीय लोगों की स्वयं की बुद्धिमता के अनुरूप विकास, भूमि और वन संबंधी जनजातीय लोगों के अधिकारों का सम्मान, प्रशासन और विकास के कार्यों को अंजाम देने के लिए जनजातीय लोगों की स्वयं की समूह का निर्माण और उन्हें प्रशिक्षित करना, जनजातीय क्षेत्रों को बहुसंख्य कार्यक्रमों के जरिये अति–प्रशासित होने से बचाना, उनके सामाजिक और सांस्कृतिक संस्थानों के विरोध की बजाय उनके अनुरूप और उनके माध्यम से कार्य करना, जैसी बातें शामिल हैं।

फिर भी, जनजातीय लोगों के प्रति एकदम भिन्न दृष्टिकोण अपनाया जाता है। इसका मुख्य कारण राष्ट्रीय विकास की अनिवार्यताएं हैं। जनजातीय विकास के मुद्दे को राष्ट्रीय विकास के मुद्दों के दायरे से अलग करके नहीं देखा जा सकता। वास्तव में, तीव्र राष्ट्रीय विकास के लिए किए गए उपायों को एक ऐसी महत्वपूर्ण व्यवस्था समझा गया जिसमें जनजातीय समाज के एकीकरण के उपाय किए जा सकते हैं। वास्तव में, भावी विकास के लिए लाभप्रद ढांचे के निर्माण और संसाधन जुटाने का राष्ट्रीय लक्ष्य, जनजातियों के कल्याण और हितों से संबंधित मुद्दों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण था। इस प्रकार राष्ट्रीय विकास के नाम पर जनजातीय हितों और कल्याण के उपायों का हमेशा बलिदान किया गया।

जनजातियां अपनी भाषाओं, संस्कृति और धर्म की संरक्षा करने और उन्हें प्रोत्साहित करने में असमर्थ हैं, हालांकि संविधान के अनुच्छेद 19(5) में कहा गया है कि किसी भी सांस्कृतिक या भाषायी अल्पसंख्यक वर्ग को अपनी भाषा और संस्कृति के संरक्षण का अधिकार है। इसका अर्थ यह है कि जनजातियों को एक समूह के रूप में और व्यक्तियों के रूप में अपनी भाषा का इस्तेमाल करने, अपने धर्म का अनुपालन करने, अपने इतिहास, संस्कृति, परंपरा, विरासत आदि का अध्ययन करने का अधिकार है। राज्य किसी कानून के जरिये उन पर कोई अन्य भाषा या संस्कृति नहीं थोप सकता। राज्य संविधान के इस प्रावधान के नाम पर कोई रचनात्मक कदम भी नहीं उठा सकता।

परंतु इस दिशा में उठाए गए कदम संविधान के प्रावधानों की भावना से भिन्न रहे हैं। ये उपाय जन जातियों की विशिष्ट भाषा और संस्कृति के संरक्षण और संवर्द्धन की बजाय प्रमुख समुदाय की भाषा और संस्कृति में उनके सम्मिलन की दिशा में अधिक लगते हैं। उदाहरण के तौर पर जनजातियों के लिए स्कूली शिक्षा की व्यवस्था संबद्ध राज्य के प्रमुख समुदाय की भाषा में की जाती है। इसका यह नतीजा है कि जनजातियां स्वयं की भाषा और संस्कृति के ज्ञान को भूलती जा रहीं हैं। वास्तव में, भाषा और संस्कृति का संवर्द्धन स्वयं जनजातियों पर छोड़ दिया गया है। परंतु, मानव, संगठनात्मक और वित्तीय संसाधनों के अभाव के कारण जनजातियां इस दिशा में कारगर उपाय कर पाने में सक्षम नहीं हैं। केवल ऐसी जनजातियां अपनी भाषा और संस्कृति की रक्षा करने में सक्षम रहीं हैं जिन्हें किसी न किसी रूप में सहायता उपलब्ध करायी गई हो। इससे यह स्पष्ट होता है कि आखिर क्यों पश्चिमी, उत्तरी और दक्षिणी भारत में जनजातीय भाषाओं और संस्कृति का अधिक ह्रास क्यों हुआ है। पूर्वी भारत विशेषकर पूर्वोत्तर में स्थिति अपेक्षाकृत बेहतर रही है। ऐसा इस तथ्य के कारण हुआ कि पूर्वोत्तर भारत में एक तरह का संस्थागत प्रबंध रहा है, जिससे जनजातीय भाषाओं और संस्कृति के विकास में मदद मिली है। जनजातीय राज्यों और स्वायत्त जिलों के निर्माण से भी इस विकास को महत्वपूर्ण बल मिला है। इससे पता चलता है कि इस तरह के सामूहिक अधिकारों को ऐसी स्थिति में आसानी से प्राप्त किया जा सकता है, जहां जनजातियों को नागरिकता या राष्ट्रीयता के रूप में स्वशासन के अधिकार प्राप्त हैं।

यह एक विडंबना है कि जनजातीय समुदायों के हित एवं कल्याण के लिए सार्थक संवैधानिक प्रावधानों और कानूनों के बावजूद जनजातियों के पृथक्करण का मूल कारण स्वयं उनसे संबद्ध कानून ही है। जनजातियों में पढ़ने–लिखने की कोई परंपरा नहीं है और यही कारण है कि उनमें रिकॉर्ड रखने और ऐसे कानूनों से निबटने की परंपरा नहीं है। उनके लिए अदालत की भाषा और पद्धति अपरिचित है। ऐसी परंपरा के अभाव में गैर–जनजातीय लोग ऐसे कानूनों का लाभ उठाते हैं और विभिन्न प्रकार के अर्थोपायों के जरिये जनजातीय भूमि का इस्तेमाल करते हैं। स्थानीय प्रशासन, जिसका प्रबंधन आमतौर पर गैर–जनजातीय लोगों के हाथ में होता है, अपने जातीय नातेदारों के साथ मिलीभगत से काम करता है ताकि जनजातीय लोगों से भूमि का हस्तांतरण गैर–जनजातीय लोगों के पक्ष में सुचारू रूप से हो सके।

उपरोक्त प्रक्रिया में उन कानूनों का भी योगदान है जो जनजातियों की संरक्षा और सामान्य नागरिकों और मानवों के लिए बनाए गए हैं। इनमें सामान्य कानूनों को नागरिकता और मानवाधिकारों के साथ जोड़ कर देखा जाता है। वास्तव में, जनजातियों के लिए अधिकारों का अर्थ नागरिक अधिकारों और मानवाधिकारों के संदर्भ में अधिक समझा जाता है। इस प्रक्रिया में, समूह के लिए, यहां तक कि अलग–थलग पड़े समूह के लिए, बनाए गए कानून निरंतर सामान्य कानूनों के अधीन होते चले जाते हैं। यही परिणति जनजातियों के संरक्षण के लिए बनाए गए कानूनों और सार्वजनिक हित के लिए बनाए गए कानूनों की भी होती है, जैसे भूमि अधिग्रहण अधिनियम, संरक्षण अधिनियम, वन अधिनियम, वन्य जीव अभयारण्य अधिनियम आदि। राष्ट्र और सार्वजनिक हित में जनजातीय अधिकारों की बली चढ़ जाती है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि भारत में न्यायपालिका और उसका संचालन करने वाले लोग आम तौर पर जनजातीय समुदायों से संबंधित संवैधानिक प्रावधानों और कानूनी अधिकारों के प्रति असंवेदनशीलता प्रदर्शित करते हैं।

❐

**(लेखक, गुवाहाटी स्थित टाटा इंस्टिट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज के प्रोफेसर हैं।**
**ई–मेल** : virg1978@gmail.com)

# मैक्ग्रॉ–हिल एजुकेशन

McGraw Hill Education WINNING WE EDGE Series

## सिविल सेवा प्रारंभिक परीक्षा 2014

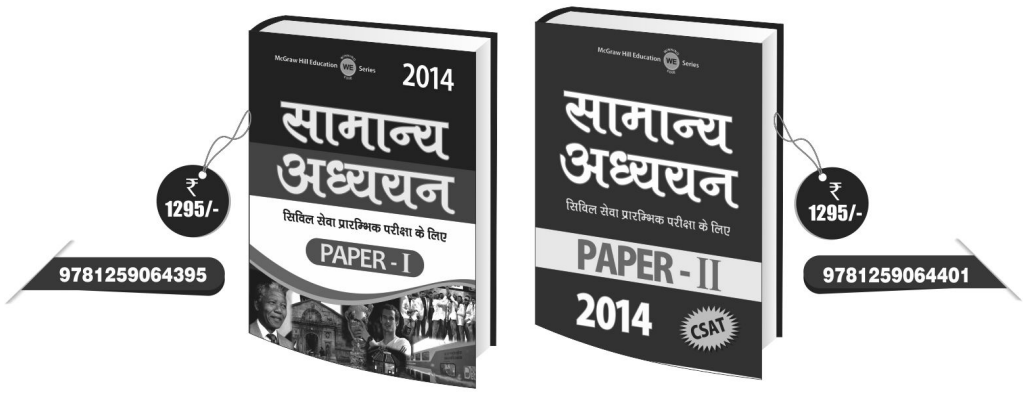


### अन्य उपयोगी पुस्तकें

Mc Graw Hill Education

**मैक्ग्रॉ–हिल एजुकेशन (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड**

बी–4, सैक्टर–63, गौतम बुनगर, नोएड़ा, उत्तर प्रदेश–201 301,
फोनः +91-120-4383502/4383503, फैक्सः +91-120-4383401, वैबसाइटः www.mheducation.co.in

- उत्तर भारतः दिल्ली/हरियाणा/पंजाब/चंडीगढ़/जम्मू–कश्मीर/हिमाचल प्रदेश/राजस्थान/मध्य प्रदेशः आशीष पराशर (09717005237); हरियाणा/पंजाब/चंडीगढ़/जम्मू–कश्मीर/हिमाचल प्रदेशः सागर भटट् (09815089556); दिल्ली/एन–सी–आरः प्रकाशचन्द्र(09560055245); मध्य प्रदेशः रोहित शैल (08871016668); उत्तरप्रदेश/उतराखंडः जगदीश ध्यानी *(09670878655)*
- पूर्वी भारतः झारखंड/उड़ीसाः सतीश कुमार सिंह (09973944225); बिहारः रणविजय कुमार (08809561425)
- पश्चिम भारतः महाराष्ट्र/गोवा/गुजरात/छत्तीसगढ़ः जूनियस रॉडिक्स (09833054319); गुजरात/महाराष्ट्रः दिलीप चौरसिया (09769429202); महाराष्ट्र/छत्तीसगढ़ः सोरभ कानुगोई (08378991475)

विक्रय एवं प्रकाशन हेतु जानकारी हेतु लिखें *test_prep@mcgraw-hill.com*

For online purchase of MHE products please log on to www.tmhshop.com

SHIPPING FREE ₹500/-

YH-216/2013

# नयी रोशनी की तलाश में घुमंतू जनजातियां

• अरविन्द कुमार सिंह

एक पुरानी कहावत है, रमता जोगी, बहता पानी। इनका कहीं ठहराव नहीं होता। चलते या बहते रहना इनकी नियति है। लेकिन हमारे विशाल देश में करोड़ों ऐसे लोग भी हैं, जिनकी नियति भी कुछ ऐसी हीं है। एक से दूसरे स्थानों पर भटकते रहना। कभी इस शहर तो कभी उस गांव। इसमें अधिकतर लोग विमुक्त, घुमंतू और अर्ध घुमंतू जनजातियों से संबधित है। 1031 के बाद इनकी कोई जनगणना नहीं हुई। इस नाते इनके बारें में प्रामाणिक आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। फिर भी मोटा अंदाजा है कि इनकी संख्या कम से कम छह करोड़ तो होगी ही। हालांकि इस समुदाय से जुड़े संगठनों और बहुत से गैर–सरकारी स्रोतों का दावा है कि ये 15 करोड़ के लगभग हैं।

लेकिन इस बड़े समुदाय में भी सबसे ख़राब दशा है उन 200 समुदायों की अंग्रेज़ी राज में एक काले कानुन ने यानी आपराधिक जनजाति अधिनियम 1871 के तहत आपराधी जनजाति घोषित किया था। कोई व्यक्ति अपराधी हो सकता है, लेकिन विश्व इतिहास में इतने समुदायों को अपराधी क़रार देने की यह अनूठी घटना थी। लेकिन बात यहीं खत्तम नहीं हुई। इस कानून को एक के बाद एक सशोंधन से और कड़ा कर ऐसी हालत ला दी गई कि इनकी विकास गति ही अवरुद्ध हो गई। आज तो ये बाकी समुदायों की तुलना में बहुत पीछे छूट गए हैं।

देश में गरीबी जैसी समस्याएं आज भी कायम हैं और सराकारी योजनाओं में इन पर खास जोर दिया जा रहा है। लेकिन इनके जैसी दशा शायद ही किसी और समुदाय की हो। कारण यह है कि आज तक इनके पास न रहने का ठिकाना है और न आजीविका का स्थायी स्रोत। आज़ादी इनकों भी मिली लेकिन अभी भी ये सम्मनित जीवन जीने के मोहताज हैं। हालांकि इनमें अधितकर जातियां जनजाति, अनुसूचित जाति या अन्य पिछड़ा वर्ग की सूची में शामिल हो चुकी हैं, लेकिन खानाबदोश होने के नाते इनका न तो जाति प्रमाण–पत्र बनता है, न राशनकार्ड या आधार कार्ड।

### गौरवशाली अतीत

अगर इतिहास पर नज़र डालें तो इनकी दशा अच्छी थी। सामाजिक ताने–बाने में इनका अहम स्थान हुआ करता था। ये सफल कारोबारी थे और बेहतरीन कलाकार भी। हमारे ग्राम्य समाज के अभिन्न अंग थे। कोई समुदाय गांवों में जाकर वस्तुओं का व्यापार करता था तो कोई प्रदर्शन कलाओं से लोगों का मनोरजंन करता था। कुछ समुदाय पशुपालन से जुड़े होते थे तो कुछ संगीत और नृत्य की दुनिया से। कुछ बेहतरीन शिल्पकार थे तो कुछ औषधीय जड़ी–बूटियों के विलक्षण ज्ञाता। जब समाज स्थिर था तो ये जड़ नहीं चलायमान थे। ये संदेशवाहक, व्यापारी और कारोबारी के रूप में स्थापित और प्रतिष्ठित थे। कुछ जनजातियां युद्धकला में प्रवीणं थीं और मुगलों को भी इन्होने खूब छकाया था। तभी 1857 की क्रांति में इनकी अग्रणी भूमिका थी। हथियार बनाने से लेकर साजो–समान जुटाने और बहुत से मामलों में इन्होंने क्रांतिकारियों की मदद की थी।

लेकिन अंग्रेज़ों ने इन्हें कुछ अलग ही निगाह से देखा और तमाम जगहों पर इनसे टकराव हुए। क्योंकि अंग्रेज़ों ने खासतौर पर कारोबारी तबकों को अपना व्यावसायिक प्रतिस्पर्धी मानते हुए सताना शुरू कर दिया था। लिहाजा उनकी आजीविका पर संकट

मंडराने लगा था। इसी नाते 1857 की महान क्रांति में इन्होनें अग्रणी भूमिका निभायी। आजीविका का संकट बढ़ने लगा तो कुछेक के कदम डगमगाए भी और उन्होंने सरकारी धन को लूटने में संकोच नहीं किया। इससे अग्रेज़ों को एक बहाना मिल गया।

### आपराधिक जनजाति अधिनियम 1871

अंग्रेज़ चाहते तो इन समुदायों को भरोसे में लेते हुए इनकी गरिमा और मर्यादा के अनुरूप सम्मानजनक रास्ता निकाल सकते थे तो ये मुख्यधारा में बने रहते और आजीविका का संकट भी नहीं खड़ा होता। अग्रेंज़ों ने आपराधिक जनजाति अधिनियम 1871 लागू कर इनहें आपराधिक जनजातियों के रूप में श्रेणीबद्ध कर दिया। अपराधी का ठप्पा भी कई जगह लगा दिया गया। फिर भी यह सवाल आज तक अनुत्तरित है कि अग्रेंज़ों ने किस आधार पर आपराधिक जनजाति क़रार दिया गया।

यह कानून पहले बंबई प्रेसीडेंसी में लागू हुआ और फिर बाकी जगहों पर। बाद में 1897, 1911, 1923 और 1924 में कानून में सशोंधन करके इसे कठोरतम बना दिया गया। अब 198 समुदायों या जातियों की किस्मत का फ़ैसला पुलिस अफसरों तक ही सीमित था। अदालतों में ये पैरवी नहीं कर सकते थे। इसमें बंजारे, सांसी, मीणा, बावरिया, कंजर, भांतू, हाबूड़ा, डोम, पारदी और गूजर जैसी तमाम जनजातियां समय की दौड़ में पिछड़ती गई। आज भी यह उपेक्षित जीवन से निजात नहीं पा सकी हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि आपराधिक जनजाति अधिनियम में 1911 में हुए संशोधन के बाद सरकार ने इनका पुनर्वास करने और बसाने के लिए कुछ प्रयोग किए। उनके आवास स्थलों का प्रभार मुक्ति सेना को दिया गया जिसकी स्थापना 1861 में लंदन में विलियम यूथ ने की थी। यह बुराइयों से लड़ने और लोगों में शांति स्थापना के मकसद से बना एक धार्मिक संगठन था। दरअसल, इनकी बस्तियां खुली जेलों जैसी थी जहां इनसे कैदियों जैसा हीं बर्ताव होता था। इन्ही में से बिजनौर के नजीबाबाद किले में भातुओं को सुधारने के नाम पर जो प्रयोग हुआ उसकी प्रतिक्रिया में वहां से भागकर सुल्ताना डाकू पैदा हुआ जिसने संयुक्त प्रांत में अग्रेंज़ों को इतना थर्रा दिया कि उसे पकड़ने के लिए तीन साल तक फौज को लगाना पड़ा था।

**हालांकि हमारे राष्ट्रनायकों ने इस कानून का विरोध किया था, लेकिन अग्रेंजों ने तो जाने कितने जनविरोधी कानून बना रखे थे और उस दौर में आज़ादी का आंदोलन ही केंद्रीय तत्व था इस नाते इस पर फोकस करके कोई आंदोलन होने की संभावना ही नहीं थी। फिर भी बाद में विरोध के स्वर उठने लगे और 1970 में पंडित जवाहरलाल नेहरू ने 1936 के इस कानून के ख़िलाफ़ आवाज़ उठायी।**

हालांकि हमारे राष्ट्रनायकों ने इस कानून का विरोध किया था, लेकिन अग्रेंज़ो ने तो जाने कितने जनविरोधी कानून बना रखे थे और उस दौर में आज़ादी का आंदोलन ही केंद्रीय तत्व था इस नाते इस पर फोकस करके कोई आंदोलन होने की संभावना ही नहीं थी। फिर भी बाद में विरोध के स्वर उठने लगे और 1970 में पंडित जवाहरलाल नेहरू ने 1936 के इस कानून के ख़िलाफ़ आवाज़ उठायी। इस नाते आजादी के बाद उन्होने इसे स्वतंत्र भारत के लिए काला धब्बा बताते हुए सितंबर 1949 में अनंत शयनम आयंगर की अध्यक्षता में आपराधिक जनजाति अधिनियम जांच कमेटी बनायी गई। सरदार पटेल ने भी इसमें अग्रणी भूमिका निभायी। दो साल के अध्ययन के बाद इसकी रिपोर्ट पर ही 31 अगस्त, 1952 को यह कानून समाप्त कर दिया गया।

आज़ादी के उपरांत आपराधिक जनजाति कानून आजादी के पांच साल और 16 दिन तक प्रभावी रहा। 1952 में पंडित जवाहर लाल नेहरू ने शोलापुर में एक समारोह में इन जनजातियों को मुख्यधारा में लाने के संकल्प के साथ विशेष मुक्ति दिलायी। तभी से ये मुक्त जनजातियां कही जाने लगी।

भारत सरकार ने पहली से सातवीं योजनावधि के दौरान इनके विकास के लिए खासा धन आवंटित किया। इनकी शिक्षा, भूमि, पुनर्वास आदि के लिए योजनाएं बनी, लेकिन राज्यों में ये ज़मीन पर साकार नहीं

**आज़ादी के उपरांत आपराधिक जनजाति कानून आजादी के पांच साल 16 दिन तक प्रभावी रहा। 1952 में पंडित जवाहरलाल नेहरू ने शोलापुर में एक समारोह में इन जनजातियों को मुख्यधारा में लाने के संकल्प के साथ विशेष मुक्ति दिलायी। तभी से ये मुक्त जनजातियां कही जाने लगी।**

हो सकीं। कारण यह बताया गया कि ये घुमंतु हैं, बसने को ही तैयार नहीं होती। आठवीं योजना से यह काम राज्यों के जिम्मे छोड़ दिया गया। हालांकि महाराष्ट्र, पंजाब और कुछ अन्य राज्यों में उठे कदमों से कुछेक समुदायों को लाभ मिला और उनके बच्चे ऊंचें पदों तक पहुंचे।

अभी तक विमुक्त, घुमंतू और अर्ध घुमंतू जनजातियों के मामले में कईं तरह की बाधाएं हैं। उनकी संख्या कितनी है, इसके प्रामाणिक आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। उनके ज्ञान भंडार के बारे में भी सीमित जानकारियां उपलब्ध है। इस नाते सबसे पहले तो इनकी सामाजिक व आर्थिक दशा पर व्यापक अध्ययन की ज़रूरत है। लेकिन एक बात तो साफ़ है कि ये देहात में रह रहें हों, जंगली इलाक़ों में या फिर दिल्ली, मुबंई, कोलकाता या अन्य महानगरों में इनकी दशा हर जगह बेहद ख़राब है। कहीं भी चोरी या किसी खास अपराध के उपरांत पुलिस इनको पहला शिकार बना देती है। हालांकि इनको कई राज्यों में अनुसूचित जाति, जनजाति या अन्य पिछड़े वर्गों में शामिल किया गया है लेकिन न तो इनका जाति प्रमाणपत्र बन पाता है, न ही घुमंतू होने के नाते इनका राशन कार्ड बन पाता है न ही वोटर पहचानपत्र। यायावरी इन पर थोपी हुई है, इस नाते साक्षरता के मामले में ये बेहद पिछड़े हुए हैं।

जैसे ही बरसात शुरू होती है कई इलाक़ों में पुलिस घुमंतू जातियों पर खास निगाह रखती है। यह भ्रम आज भी कायम है कि बरसात का फायदा उठाकर ये लोग जघन्य घटनाओं को अंजाम देते हैं। इस नाते कई जिलों की सीमा से पुलिस इनको खदेड़

देती है। चूंकि ये लोग प्रायः सड़कों के किनारे, रेलवे स्टेशनों के आसपास या ऐसी जगहों पर रहतें हैं, जहां इनके डेरों की पहचान आसानी से हो जाती है। बेहद गरीबी में जी रही इन जनजातियों को किसी भी अनसुलझी आपराधिक घटना में शिकार बनाना आसान हो जाता है। पुलिस इनके युवकों का उत्पीड़न शुरू कर देती है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के भेदभाव विरोधी संगठन ने भारत सरकार से अपील की है कि आदतन अपराधी अधिनियम को समाप्त किया जाए। विमुक्त जातियों का प्रभावी पुनर्वास हो।

यह समाज अंसंठित है और इनमें चेतना की बहुत कमी रही है। हालांकि उनके हक़ों में हाल के सालों में आवाज़ें उठने लगी हैं और कई संगठन खड़े हुए हैं। लेकिन माहौल बदलने के लिए सबसे पहले इन जनजातियों के प्रति आम लोगों की मानसिकता को बदलने की सख्त जरूरत है। इनको स्वास्थ्य, शिक्षा, आवासीय पट्टे या अन्य सरकारी योजनाओं का लाभ भी नहीं मिल पाता है। रोटी, कपड़ा और मकान के लिए इन जातियों को दर–बदर भटकना पड़ रहा है। इस नाते इनके लिए ठोस पुनर्वास नीति की जरूरत है।

देश में इन समुदायों में कुछेक की दशाएं तो बदल गई है लेकिन अधिकतर आज भी दरबदर है। बंजारों का गौरवशाली इतिहास रहा और वे प्राचीन काल में तब से व्यापार करते आ रहे थें जब कारवां चला करते थे। भारत में रेलें आई तो इनकी कारोबारी ताक़त और बढ़ी। बंदरगाहों से उतरने वाले माल को ये देश के भीतरी हिस्सों तक पहुंचाते थे। लेकिन 1857 की क्राति में इनकों क्रांतिवीरों का संदेशवाहक मानते हुए आपराधिक जाति की सूची में शामिल कर दिया। बंजारा समाज के लोग विमुक्त, घुमंतू अर्धघुमंतू पिछड़े और आदिवासियों की श्रेणी में आते हैं। उनको आंध्र प्रदेश, ओडिशा और पश्चिम बंगाल में जनजाति , कर्णाटक और दिल्ली में अनुसूचित जाति और उत्तर प्रदेश में अन्य पिछड़ा वर्ग का दर्ज़ा मिला है, लेकिन इसके बाद भी इनकी दशा बदतर है।

सदियों से भटक रहे इस समुदाय के लोगों में अब कहीं–कहीं स्थायित्व दिखने लगा है और इनमें राजनीतिक चेतना के साथ संगठन भी बनते दिख रहे हैं। बंजारें हिन्दू और मुसलमान दोनों है। 2006 में इलाहाबाद हाईकोर्ट ने बंजारा समुदाय के राजनीतिक प्रतिनिधित्व के मसले पर एक ऐतिहासिक फ़ैसला सुनाते हुए कहा कि अगर कोई व्यक्ति पिछड़ी जाति का होने की सभी जरूरतें पूरी करता है तो वह संविधान के अनुच्छेद 16 (04) के तहत सभी अधिकारों का हक़दार हो जाता है और इसका धर्म से कोई संबंध नहीं। बंजारा दोनों समुदायों से संबंधित है और संविधान के तहत आरक्षण के सभी लाभों के हक़दार हैं। यह फ़ैसला

**बंजारों का गौरवशाली इतिहास रहा और वे प्राचीन काल में तब से व्यापार करते आ रहे थें जब कारवां चला करते थे। भारत में रेलें आई तो इनकी कारोबारी ताक़त और बढ़ी। बंदरगाहों से उतरने वाले माल को ये देश के भीतरी हिस्सों तक पहुंचाते थे। लेकिन 1857 की क्रांति में इनकों क्रांतिवीरों का संदेशवाहक मानते हुए आपराधिक जाति की सूची में शामिल कर दिया।**

मोज्जाम अली की याचिका पर हुआ था जो बंजारा मुस्लिम होने के नाते पिछड़े वर्ग के लिए आरक्षित सीट से नगर निकाय के लिए चुनाव लड़ रहे थे, लेकिन उसका नामांकन मुसलमान बताते हुए ख़ारिज कर दिया गया था। उनके हक़ में फ़ैसला हुआ।

भारत में कालबेलिया जोगी कई राज्यों में पाए जाते हैं लेकिन पश्चिमी राजस्थान में इनकी आबादी 25 से 30 हज़ार के बीच मानी जाती है। ये भी बंजारों सरीखे ही हैं, जो काफ़िले में चलते हैं। वे सांप दिखा कर और लोगों का मनोरंजन करने के अलावा भिक्षावृति करके रोटी कमाते हैं। वहीं देवार जाति का संबंध छत्तीसगढ़ से रहा है। आज इनका काम है सांप दिखाना, सुअर पालन करना, भीख मांगना और गाना, बजाना। यायावार होने के नाते ये अपना डेरा लेकर तालाब जैसी गति पा जाते हैं। देवार चोरी को पाप समझते हैं लेकिन टोना–टोटका और तमाम अंध विश्वासों को मानते है। पहले ये आमतौर पर नदी, तालाब, ताल–पोखरों के किनारे बसते थे लेकिन अब नगरों में भी रहने लगे हैं।

गाड़ियां लुहारों को कई जगहों पर लोगड़िया, गाड़ी लुहार, लोहापीटा या दुधलिया जैसे नामों से जाना जाता है। यह बंजारों की ही श्रेणी में ही है और देश के करीब हर हिस्से में इस समुदाय की मौजूदगी दिखती है। इनमें महिलाओं का कठोर श्रम बहुत अहमियत रखता है। ये भी कहीं पुल के नीचे तो कहीं गंदे नालो, सड़क किनारे या फुटपाथों पर आंधी–तूफान, बरसात सर्दी–गर्मी झेलते दिन गुज़ारते हैं। 1857 में इन्होंनें क्रांतिकारियों के लिए हथियार बनाए थे, लेकिन अब खेती और घर के काम आने वाले सामान बनाते हैं। गाड़ियां लोहार अपने परंपरागत लोहे के कारोबार में ही लगे हैं। हालांकि इसमें इनको बिचौलियों के नाते पिसना पड़ता है। इनका सब कुछ अस्थायी ही है इस नाते इन पर लोग भी भरोसा नहीं करते हैं। इनके पास न जमीन है, न घर। अशिक्षा, बीमारी और गंदे वातावरण के बीच में ही पीढ़ियों से गुज़र–बसर कर रहे इन लोगों का क़ाफिला कुछ दिनों तक एक स्थान पर ठहरने के बाद दूसरे स्थान के लिए निकल जाता है।

गुजरात में तुरी, वजनिया, डाफेर मदारी और वंसफोडा जनजाति की आबादी करीब चार लाख है। ये घुमंतू है लेकिन इनकी कोई मान्यता नहीं है। इनको आज भी दक्षिण गुजरात के तमाम इलाक़ों में पुलिस चोर ही समझती है और वैसा ही बर्ताव करती है।

विख्यात लेखिका महाश्वेता देवी ने पश्चिम बंगाल और आड़िसा के कई समुदायों के बीच काफी काम किया और उनका आकलन है कि पुलिस तमाम आपराधिक मामलों में अपनी खाल बचाने के लिए इनको अकारण घसीटती रहीत हैं। वे मानती है कि यह अमानवीय और अन्यायपूर्ण है । यह आम बात है कि आज भी तमाम हत्या डकैती, लूटमार में कई जनजातियों को पुलिस शिकार बना देती है। उनके आम शिकार सांसी, मीणा, बावरिया, कंजर और गूजर आदि होती हैं। बावरिया और बहेलिया को वन अधिकारी वन्य जीवों की तस्करी में लपेटते रहते हैं।

देश में घुमंतू समुदायों में बावरिया और सांसी बड़ी संख्या में हैं। लेकिन इन दोनों को सबसे अधिक पुलिस प्रताड़ना की शिकायतें

मिलती हैं। गुजरात में 12 घुमंतू जातियां जिसमें बाघरी अधिक हैं। इनको 1963 में जनजाति में रखा गया था तो कुछ फायदा होने तगा था लेकिन 1994 में उनको अति पिछड़ा वर्ग में शामिल करने के बाद हालात पहले जैसे हो गए। देश में घुमंतू समुदायों में बावरियां और सांसी बड़ी संख्या में हैं। लेकिन इन दोनों को सबसे अधिक पुलिस प्रताड़ना की शिकायतें मिलती हैं।

इसी तरह कंजर समुदाय की हालत हैं जो अपना पड़ाव जंगली क्षेत्र में या नदी के पास करते हैं। इनके रहने की अवधि इस बात पर निर्भर है कि स्थानीय लोगों का इनके प्रति रवैया कैसा है। कई कंजर जंगली जड़ी–बूटी और दवाएं बेचते हैं। बांस की खपच्चियों से लिपटे इनके तंबुओं की दशा दयनीय रहती हैं। इनके साथ अछूतों सा व्यवहार होता हैं। ये कुशल कृषक नहीं हैं इस नाते इनको खेती में मज़दूरी नहीं मिलती है। पहले ये बड़ी संख्यां में पशु रखते थे, लेकिन अब हालत बदल गई है।

इन समुदायों की दशा सुधारने के लिए राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग ने 1998 में ठोस पहल करते हुए एक उच्चस्तरीय दल बनायी। आयोग की रिपोर्ट में आदतन अपराधी अधिनियम को निरस्त करने के साथ हर राज्य में इन पर होने वाले अत्याचारों की निगरानी के लिए प्रतिष्ठित सेवा निवृत पुलिस अधिकारी की नियुक्ति की सिफ़ारिश की गई। इन समुदायों की गणना कराने और जरूरी सुविधाएं उपलब्ध करने की भी आयोग ने सिफ़ारीश की। आयोग ने इन समुदायों के उत्पीड़न और अन्य पहलुओं पर जब राज्यों से रिपोर्ट मांगी तो अधिकरत का दावा था कि इनका बेहतर पुनर्वास किया जा चुका है और कोई पुलिस उत्पीड़न नहीं हो रहा है।

आयोग की दी गई जानकारी में आंध्र प्रदेश सरकार ने माना कि पूर्व घोषित 59 आपराधिक जनजातियों में येरूकुला चोरी, डकैती करती थी और पुलिस आज भी इन पर निगाह रखती है। लेकिन बाकियों का बेहतर पुनर्वास करके समाज की मुख्यधारा में शामिल कर दिया गया। वहीं छत्तीसगढ़ में पारधी को अनुसूचित जनजाति, पासी को अनुसूचित जाति और बंजारा बैरागी को अन्य पिछड़ा वर्गे में शामिल किया गया है। घुमंतु और अर्द्धघुमंतु जातियों में भाट, देवार, जोगी, जोशी, कसाई, गोसांई आदि आरक्षण का लाभ ले रहे हैं। छत्तीसगढ़ सरकार के मुताबिक इनमें किसी को आपराधिक प्रवृति का नहीं माना जा रहा है न कोई भेदभाव हो रहा है। वहीं झारखंड सरकार का दावा है कि घुमंतु बस गए हैं। केवल बिरहौर पहले खानाबदोश थे लेकिन अब नहीं। वहीं उत्तराखंड सरकार के मुताबिक वहां कोई अधिसूचित या खानाबदोश जनजाति है ही नहीं।

गुजरात में 12 जातियों को खानाबदोश और 28 को गैर–अधिसूचित जनजाति की सूची में रखा गया। इनमें 33 को अन्य पिछड़ावर्ग में चार अनुसूचित जनजाति और दो अनुसूचित जाति में शामिल किए गए।

**इन समुदायों की दशा सुधारने के लिए राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग ने 1998 में ठोस पहल करते हुए एक उच्चस्तरीय दल बनायी। आयोग की रिपोर्ट में आदतन अपराधी अधिनियम को निरस्त करने के साथ हर राज्य में इन पर होने वाले अत्याचारों की निगरानी के लिए प्रतिष्ठित सेवा निवृत पुलिस अधिकारी की नियुक्ति की सिफ़ारिश की गई। इन समुदायों की गणना कराने और जरूरी सुविधाएं उपलब्ध करने की भी आयोग ने सिफ़ारिश की।**

लेकिन गरुणी समुदाय किसी सूची मे शामिल नहीं हैं। वहीं हरियाणा सरकार ने भी 20 खानाबदोश और 11 गैर–अधिसूचित जातियों को अनुसूचित जाति या अन्य पिछड़ा वर्ग में शामिल किया हैं। सरकार के मुताबिक उनमें कुछ अपराधों में शामिल हैं। जबकि हिमाचल प्रदेश में गद्दी और गूजरों को आंशिक खानाबदोश माना गया है।

मध्य प्रदेश में ऐसे 30 समुदायों की बस्तियां आज भी पुलिस रिकार्ड में बस्ती कंजरान कही जाती है। जबकि उत्तर प्रदेश में 11 समुदायों को बसी श्रेणी और 25 को खानाबदोश में रखा गया। अंडमान में छह जनजातियां हैं जिनमें कोई आपराधिक नहीं थे। लेकिन 1926 में यहां पर उत्तर प्रदेश से भेजी गई भांतू जनजाति को अभी भी सुविधाओं का इंतजार है। भांतुओं के कुछ गिरोह डकैती और लूटपाट करते थे। इनमें सुल्ताना डाकू गिरोह से जुड़े और तमाम अन्य भांतुओं को सजा के तहत मुक्ति सेना की सिफ़ारिश पर अंडमान भेजा था। बाद में इनको दक्षिण अंडमान के तीन गांवों में खेती की ज़मीन मिली। अंडमान प्रशासन का दावा है कि यह जाति अब पूरी तरह बदल गई है। वे अपराध नहीं करते और दूसरे समुदायों के साथ मिलकर रह रहे हैं। अंडमान–निकोबार अन्य पिछड़ा वर्ग आयोग के मुताबिक 70 फीसदी भांतू घर की बनी देशी शराब जरूर पीते हैं, लेकिन इनमें आपराधिक प्रवृत्ति नहीं है। आयोग ने चार अन्य समुदायों सहित भातुओं को अन्य पिछड़ा वर्ग में शामिल करने की सिफ़ारिश की है, जिस पर अभी फैसला होना है।

पंजाब और महाराष्ट्र जैसे राज्यों में इनकी दशा में कई तरह के बदलाव आए हैं। पंजाब में राय सिख आज मुख्यधारा में शामिल हो चुके हैं जोकि पहले रायकबीले कहे जाते थे। ये खानाबदोश ही थे लेकिन समय के साथ पंजाब की हरितक्रांति में योगदान करते हुए ये कई जगहों पर बस गए। पहले ये रस्सी और टोकरी बनाने के साथ शिकार करते थे और नदी किनारे या जंगलों में बसते थे। लेकिन पंजाब में सरदार प्रकाश सिंह कैरो के मुख्यमंत्री काल में इनको नदी के किनारे की ज़मीनें आवंटित की गई और इनकी मेहनत से कई इलाक़े सरसब्ज होने लगे। इनके रहन–सहन में व्यापक बदलाव आया। चंद अपवादों को छोड़ दें तो आज ये मुख्यधारा में शामिल हो चुके हैं।

इसी तरह महाराष्ट्र में मुख्यमंत्री वसंतराव नाइक ने इस समुदाय को मेडिकल और इंजीनियरिंग शिक्षा के साथ नौकरी और पदोन्नति में चार फीसदी आरक्षण दिया जिससे काफी बदलाव आया। यहां बड़ी संख्या में विमुक्त घुमंतु समाज के लोगों को नौकरी मिली और उनके जीवन स्तर बदला। इसी तरह हाल में मध्य प्रदेश में विमुक्त जातियों के कल्याण के लिए अलग विभाग और राजस्थान में भी राज्य विमुक्त, घुमंतू एवं अर्द्ध घुमंतू कल्याण बोर्ड बनाया गया है।

लेकिन उत्तर प्रदेश जैसे प्रांत जहां इस समुदाय की सबसे अधिक आबादी थी, वहां आज भी कई समुदायों को मुख्यधारा में आने का इंतज़ार है।

इस समुदाय की दशा को लेकर संसद में भी कई मौकों पर चर्चा हुई। 17 अप्रैल, 2008 को यवतमाल के सांसद हरिभाऊ राठौड़ ने लोकसभा में निजी संकल्प रखा जिस पर इस पर 19 दिसंबर, 2003 को चर्चा पूरी हुई और सरकार के आश्वासन पर संकल्प वापस हुआ। इस संकल्प में दावा किया गया कि इस समुदाय के 15 करोड़ लोग हैं जिनको मुख्यधारा में लाने के लिए विधेयक लाया जाए। क्योंकि 140 साल बाद भी इस समुदाय को न्याय नहीं मिल सका है। इस चर्चा में कई बिंदु उभरे। उनके संकल्प का 17 सांसदों ने समर्थन किया। इस चर्चा पर जवाब देते हुए तत्कालीन सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री श्रीमती मीरा कुमार ने सदन में माना कि 1857 की महान क्रांति की पृष्ठभूमि में आपराधिक जनजाति अधिनियम बना था। 1949 में आयंगर जांच समिति के आधार पर इनको अपराधी के रूप से हटा कर विमुक्त घोषित किया गया। फिर 1953 में काका कालेलकर की अध्यक्षता में बने पिछड़ा वर्ग आयोग ने विशेष सख्ती के साथ यह बात कही कि इनको आगे कोई अपराधी जाति नहीं कहेगा। साथ हीं इनके आर्थिक, शैक्षिक विकास, सुरक्षा और पुनर्वास समेत कई कार्यक्रमों की सिफ़ारिश की गई। इन समुदायों में कुछ को अज़ा कुछ को अजज़ा और कुछ पिछड़ी जाति में शामिल किये गएं हैं। सरकार भी मानती है कि इनको लाभ मिलने में कई तरह की बाधाएं हैं।

23 अक्तूबर, 2003 को इनके कल्याण के लिए जरूरी कदम सुझाने के लिए राष्ट्रीय आयोग गठित किया गया ताकि उनके हकों में बेहतर कदम उठें। हालांकि यह आयोग कम नहीं कर सका और बिना रिपोर्ट दिए 21 नवंबर, 2004 को यह भंग हो गया। फिर सप्रंग सरकार ने 14 मार्च, 2005 को विमुक्त, घुमंतु और अर्ध घुमंतू जनजातियों के लिए बी. एस. रेनके की अध्यक्षता में आयोग गठित की, जिसने देशव्यापी दौरा करके 2 जुलाई, 2008 को अपनी रिपोर्ट दी। आयोग ने 76 सिफारिशें की 29 अगस्त और 17 सितंबर, 2008 को सभी संबंधित मंत्रालयों को भेजी जा चुकी है। आयोग की सिफ़ारिशों में कुछ का संबंध केंद्र सरकार से है जबकि बाकी का राज्य सरकारों से।

आयोग ने इनके लिए स्थायी आवास, शिक्षा कौशल विकास और पुलिस उत्पीड़न से रक्षा करने समेत कई अहम बातें कहीं हैं। आयोग की राय में इस पर व्यापक शोध होना चाहिए कि कितनी विमुक्त जातियां हैं, कितनी खानाबदोश या अर्द्धखानाबदोश। आयोग का मत है कि पीढ़ियों से हासिल किया गया इनके पास अनूठा भंडार है जिसे हमें खोना नहीं चाहिए। साथ इनकी संस्कृति को सहेज कर रखने के भी उपाय होने चाहिए। इनके विकास के लिए ठोस उपाय करने के साथ इनके हक़ में संविधान संशोधन भी करना होगा। आयोग ने इन समुदायों के प्रति पुलिस अफसरों को संवेदनशील बनाने के लिए राष्ट्रीय पुलिस अकादमी, हैदराबाद के पाठ्यक्रम में भी बदलाव किया जाना चाहिए।

इसी मसले पर श्रीमती सोनिया गांधी की अध्यक्षता में राष्ट्रीय सलाहकार परिषद ने भी व्यापक अध्ययन कराया। परिषद ने अपनी कई अहम सिफ़ारिश सरकार को दी हैं। परिषद की राय में सबसे पहली इनकी गणना और वर्गीकरण किया जाना चाहिए साथ ही इनको आधारकार्ड जारी करने में प्राथमिकता दी जानी चाहिए। सरकारी अमला इनको न खोजे और न पूर्वाग्रह से प्रभावित हो। इनके लिए निवास और पते की परिभाषा को लचीला बनाते हुए राज्यवार सूची संकलित की जाए। परिषद के मुताबिक उनको बसे हुए समुदायों की तरह पीडीएस, मनरेगा जब कार्ड, पेंशन, शिक्षा, आंगनबाड़ी और स्वास्थ्य सुविधाएं नहीं मिलती। समय के साथ इनके पारंपरिक व्यवसाय पर भारी असर पड़ा है। उनके पास नया व्यवसाय करने के लिए न तो साधन और पूंजी है, न ही कौशल। ऊपर से आपराधिक जनजाति के लांछन से हालत और विकट हो गई है। इसी प्रकार बंधुआ मज़दूरी का उन्मूलन हो जाने के बाद भी इनमें यह तत्व विद्यमान हैं।

परिषद की सिफ़ारिश है कि इनके लिए अभियान चला कर जाति प्रमाणपत्र जारी किया जाए क्योंकि योजनाओं का लाभ लेने के लिए यह सबसे अहम दस्तावेज़ है। इसी तरह इनको वोटर पहचान–पत्र, बीपीएल कार्ड, मनरेगा जॉब कार्ड आदि जारी करने में विशेष ध्यान दिया जाए और इन प्रयासों का मीडिया में व्यापक प्रचार भी हो। परिषद की राय में पुलिस को संवेदनशील बनाने के साथ कुछ विधायी उपायों की भी ज़रूरत है ताकि इनका उत्पीड़न प्रभावी तरीक़े से रोका जा सके। इन समुदायों की आजीविका और यायावरी जीवन शैली संरक्षित रखी जा सके। यह भी उल्लेखनीय है कि परिषद के प्रयासों से राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा कानून में निराश्रित और आदिम जनजातियों के साथ बेघर लोगों को भी शामिल किया गया। राष्ट्रीय सलाहकार परिषद मानती है कि भले ही इनकी कोई जनगणना नहीं हुई है लेकिन इनकी बड़ी आबादी सभी राज्यों में है। कई राज्यों में इनकी सूचियां भी तैयार नहीं हैं। जिस नाते इनकी हालत का वास्तविक ज्ञान नहीं हैं। लिहाजा आज भी ये यायावरी जनजातियां अत्यंत अल्प सुविधा प्राप्त और निराश्रित बनी हुई हैं।

वैसे तो भारत में यही समुदाय नहीं, सारे जनजातीय समुदाय की हालत बेहतर बनाने की जरूरत है। देश के करीब 15 फीसदी भूक्षेत्र में विभिन्न पारिस्थितकीय और भू–जलवायु के बीच जी रही इन जनजातियों में 75 कमज़ोर जनजातीय समूह यानी पीटीजी की दशा भी शोचनीय है। कुछ समुदायों में साक्षरता का स्तर काफी कम हैं। कुछ ऐसे हैं जिनका अस्तित्व ही ख़तरे में हैं या उनकी आबादी स्थिर है। कुछ ऐसे हैं जो खेती–बाड़ी करना नहीं जानते और कुछ पुरानी तकनीक में ही उलझे हैं। इन सबके लिए अब तक सरकारी स्तर पर कई प्रयास हुए थे बहुत प्रभावी नहीं रहे। इस नाते नया माहौल बना कर उनको नयी मुक्ति दिलानी जरूरी हैं।

❐

**(लेखक राज्यसभा टीवी में वरिष्ठ पत्रकार हैं।**
ईमेल–arvindksinghald@gmail.com)

**DELHI HEAD OFFICE**

A-31/34, Basement, Jaina Exten.
Comp., Dr. Mukherjee Nagar, Delhi
011-47567779

0-888-222-4455
0-888-222-4466
0-888-222-4477
0-888-222-4488

**CENTRAL ENQUIRY : 0-8882388888**
Email : kumariasacademy@gmail.com
Facebook : kumarias343@gmail.com
Website : www.kumarsias.com

# IAS

भारत का एकमात्र सेवार्थ संस्थान
न्यूनतम शुल्क, अधिकतम गुणवत्ता

# KUMAR'S IAS

# PCS

**CENTRAL ENQUIRY : 0-8882388888**
Email : kumariasacademy@gmail.com
Facebook : kumarias343@gmail.com
Website : www.kumarsias.com

**AGRA BRANCH OFFICE**

7, IInd Floor, Jawahar Nagar,
Bye Pass Road, Khandari, Agra
0562-6888886

0-8393900022
0-8393900033
0-8393900044
0-8393900055

YH-214/2013

# आदिवासियों के लिये स्वशासन

• राहुल बनर्जी

## संवैधानिक गुत्थियां

वर्ष 2001 के अप्रैल महीने के गर्मियों की एक दोपहर बाद की बात है। मध्य प्रदेश के देवास जिले की बागली तहसील के काटुकिया गांव का रहने वाले भिलाला आदिवासी पटेल समुदाय का मोतियाभाई राष्ट्रीय अनुसूचित जाति एवं जनजाति आयोग के तत्कालीन अध्यक्ष, दिलीप सिंह भूरिया के सामने अपने घर के खंडहर में बैठा हुआ पूछ रहा था कि क्या भारत का नागरिक होने के नाते उसे अपनी ही छत के नीचे इज्जत के साथ जिंदगी बिताने का अधिकार नहीं है ?

इस सिलसिले में कई सवाल उठते हैं। मोतियाभाई पटेल जैसे आदिवासियों को बिना संतोषजनक उत्तर की उम्मीद किये स्वतंत्र भारत में ऐसे सवाल पूछने की मज़बूरी क्यों उठानी पड़ती है ?

आदिवासियों की सुरक्षा के कई उपायों और कल्याणकारी कानूनों के होते हुये भी महत्वपूर्ण ढंग से अधिकारों की मांग करने पर क्यों कठोर और दमनकारी उपायों का सामना करना पड़ता है? अनुसूचित छात्रों में पंचायत प्रावधानों का विस्तार करने वाला अधिनियम ( पीईएसए) 1996 जो शुरू–शुरू में आदिवासियों की हर शिकायतों के लिये रामबाण माना जाता था, उनका कोई भला नही कर पाया? स्वतंत्रता प्राप्ति के 6 दशक बाद भी आदिवासियों को स्वशासन देने का जो कानून बनाया गया था, वो अब भी क्यों मृग मरीचिका बना हुआ है ? इन सवालों का जवाब पाने के लिये विभिन्न कानूनी प्रावधानों का इतिहास खोजने की जरूरत पड़ेगी। हम निष्कर्ष पर तभी पहुंच पायेंगे कि (पीईसए) क्यों पारित किया गया और बाद में उसे लागू क्यो नही किया गया ?

खान अबदुल गफ्फार खान और जयपाल सिंह जैसे दिग्गज आदिवासी नेताओं की मौजूदगी और संविधान सभा में उनकी आदिवासियों के पक्ष में जोरदार बहस कि आदिवासियों के लोकतंत्रीय अधिकारों और उनके समुदाय का शोषण रोकने वाले कानून बना दिए जाएं, ताकि अर्थव्यवस्था की एकीकरण प्रक्रिया के दौरान उनका शोषण न हो। उनके पक्ष में कानून बनाए गए (भारत सरकार, 1954)। इसका परिणाम ये हुआ कि संविधान में अनेक व्यापक व्यवस्थाएं की गईं और उनकी बेहतरी और कल्याण के लिये कई कानून पारित किए गए। इसके परिणाम स्वरूप औद्योगिक विकास की कई अपेक्षाए जिनकी 1950 के दशक में शुरुआत की गईं थी, अधूरी रह गई और जब भी सरकारी अधिकारी ने आदिवासियों के लिये केंद्रीय नियोजन की प्रक्रिया शुरू की, इसे आदिवासी अधिकार क्षेत्र में बड़ा हस्तक्षेप माना गया और यह विशाल प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग के लिये आज तक स्वतंत्रता बाद भी हस्तक्षेप माना जाता है।

स्वतंत्र भारत की राष्ट्रीय सरकार ने आधुनिक औद्योगिक विकास तेज़ करने के लिये प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग की अंग्रेजों की नीति जारी रखी। 1860 में उन्होंने भारतीय दण्ड संहिता पारित की। 1861 में उन्होने भारतीय दंड संहिता बनाई हैं। कुछ संशोधनों के साथ ये कानून आज भी हैं और इन्हें इस तरह से संहिताबद्ध किया गया है कि वे किसी संगठित सार्वजनिक असहमति को आसानी से दबा देते हैं। सबसे बड़ी कमी इस संदर्भ में यह रही कि गांधीजी ने ग्राम स्वराज का नारा दिया जिसे उन्होंने सामान्य स्तर पर लोकतंत्र को बढ़ावा देने का कारगर साधन माना। इसके लिये उन्होंने प्रत्येक गांव को आत्मनिर्भर गणराज्य बनाने की अवधारणा की छुट्टी कर दी। पंचायती राज्य विषय को सरकार की नीति निर्धारक तत्वों में शामिल कर दिया गया जो अदालत में नहीं माना जाता और उसकी जड़े मौलिक अधिकारों जितनी मज़बूत नहीं हैं। इन्हें अदालतों द्वारा लागू नहीं किया जा सकता। मुफ्त शिक्षा, स्वास्थ्य और पोषण सेवाएं तथा जीविका के प्रतिष्ठापूर्ण साधनों को इसी धारा के अन्तर्गत शामिल किया गया। इस कारण ये बुनियादी अधिकार तो बने, लेकिन इन्हें अदालत में टिकाऊ नहीं माना जाता। इस प्रकार से, जिन प्रावधानों के जरिये चेतना तथा आदिवासी समाज में चौकसी आनी थी, उन्ही के कारण विकास प्रकिया में अपने गुणों के कारण वे लागू नही किये जा सके और आजादी मिलने के बाद केंद्र और राज्य की सरकारों ने आंतरिक उपनिवेशवाद की वही सामंतशाही नीतियां जारी रखीं। मामले तब और भी पेचीदे हो गए जब मौलिक अधिकारों को प्राप्त करना खर्चीला मामला बन गया क्योंकि शिकायतें दूर करने के लिये उच्च न्यायालय और उच्चतम न्यायालय जाना खर्चीला मामला बन गया। राजे–रजवाडे, जमींदार और उद्योगपति अकसर गरीबों के न्याय पाने के रास्ते में रोड़े अटकाने के लिये अदालत जाने लगे। लेकिन गरीब आदिवासी राज्य की महंगी अदालतों के दरवाजें खटखटाकर गैर कानूनी कार्यवाही रोकने में असमर्थ रहें।

## आदिवासियों की मुश्किलें

जैसा कि ऊपर कहा गया है, भारत के संविधान में आदिवासियों के कल्याण के लिये विशेष प्रावधान किए गए हैं। असम, मेघालय, त्रिपुरा और मिजोरम में ये प्रावधान छठी अनुसूची के जरिये लागू किए गए जबकि आंध्र प्रदेश, ओड़िशा, झारखंड, हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, महाराष्ट्र, गुजरात और राजस्थान के लिये पांचवीं अनुसूची के प्रावधान रखे गए। इनके पीछे मुख्य विचार यह था कि आदिवासियों की एक अपनी जीवनशैली है जो आज की औद्योगिक विकास की भोगवादी व्यवस्था से मेल नहीं खाती। इस प्रकार से जरूरी समझा गया कि उन्हें आधुनिक विकास के आक्रामक रवैये से अलग

रखा जाए। ब्रिटेन के प्रशासक, नृतत्वशास्त्री और समाज सुधारक और सक्रिय समाज सेवक वेरियर एल्विन का प्रमुख विचार ऐसा ही था। वह नेहरू जी के आदिवासियों से संबंधित पंचशील विचारों से सहमत थे। इसमें आदिवासियों की विकास योजनाएं बनाते समय उनकी अनोखी संस्कृति का ध्यान में रखने की बात कही गई थी। लेकिन जन सामान्य स्तर और इन विचारों के बीच जबर्दस्त असंतुलन के कारण ये महान विचार वास्तविक नही बन पाएं।

छठी अनुसूची के प्रावधानों में स्वायत्तशासी जिला परिषदों के सस्थानों द्वारा आदिवासी क्षेत्रों में रहने वाले लोगों को स्वशासन देने की व्यवस्था है। बावजूद इसके इन स्वायत्तशासी जिला परिषदों ने अपने कुछ अधिकार कुछ क्षेत्रों में अन्य संस्थानों को सौंप दिए हैं। इनके कारण राज्य के अनेक अधिकार सीमित हो गए हैं। असम और त्रिपुरा के मामले में गैर आदिवासी लोग जो अपने कोई अधिकार छोड़ कर आदिवासियों को देने के लिये तैयार नहीं थे। उन्होंने इन जिला परिषदों के कुछ अधिकार कम कर दिए। मेघालय और मिजोरम के राज्य स्तर के आदिवासी नेताओं के सारे अधिकार हड़प लिए गए। जिला परिषदों द्वारा इन कानूनों को मान्यता न देने के कारण समस्याएं पैदा हुईं। कुछ समस्याएं उन्हें विकास कार्यों के लिये उपलब्ध निधियों में कमी करने से भी पैदा हुईं। केंद्रीकृत विकास और जनजातियों कें नियमों के कारण भी जिला परिषदों से लोगों की और खासतौर से पूर्वोत्तर राज्यों की महत्वाकांक्षाएं पूरी नहीं हो पाई (राय–बर्मन,1997)।

पांचवीं अनुसूची वाले क्षेत्रों में स्थिति इससे भी ख़राब रही। धारा पांच की पांचवीं अनुसूची का संबद्ध भाग नीचे दिया जा रहा है :

5(2). किसी राज्य में, फिलहाल जो वर्तमान में अनुसूची का क्षेत्र नहीं हैं, राज्यपाल शांति और सुशासन के लिये कानून बना सकते हैं। ये कानून खासतौर से आम जनता के अधिकारों को नुकसान पहुचाये बिना निम्नलिखित प्रकार के हो सकते हैः

क). इन नियमों के जरिये अनुसूचित जनजातियों की ज़मीन की खरीद बिक्री पर रोक लगाना अथवा उसे सीमित करना।

ख). अनुसुचित जनजातियों के सदस्यों के लिये भूमि आवंटन इस प्रकार से विनियमित करना कि–

ग). क्षेत्र में जो लोग जन–जाति के स्दस्यों को पैसा उधार देते हैं उनके व्यापार को विनियमित करना।

5(3). इस अनुछेद के उप खंड (2) में वर्णित विषय पर कोई नियम बनाते समय राज्यपाल उस क्षेत्र में तत्कालीन लागू किसी भी केंद्रीय अथवा राज्य सरकार द्वारा बनाए गए कानून को रद्द/संशोधित कर सकता है।

इस प्रकार से सिद्धांत रूप से किसी राज्य के राज्यपाल को अधिकार है कि वह किसी भी भारत वन कानून अथवा भूमि अधिग्रहण कानून को दूर रखने के लिये राज्य के आदिवासी विधायकों की सलाहकार परिषद की सलाह पर भंग कर सकता है। इन प्रावधानों की सबसे खास बात यह है कि राज्यपाल ऐसे कानून को आदिवासी इलाकों में शांति और सुशासन सुनिश्चित करने के लिये उन आदिवासी इलाकों में लागू कर सकता है जहां संविधान रचनाकारों को लगे कि यह काम सिर्फ़ आदिवासी नेताओ को करना चाहिये और स्थानीय कानूनों और परंपराओं के अनुसार उनके विकास की अनुमति होनी चाहिये। लेकिन ऐसा करने की अभी तक कभी नौबत नहीं आईं और इसे मात्र एक सुझाव माना जा रहा है जो संविधान में राज्य की नीतियों के लिये निध ार्रक तत्वों की तरह लिखा तो है, लेकिन इस पर अमल करना या न करना कार्यकारणी के हाथ में होता है।

परिणामस्वरूप, आदिवासी क्षेत्रों में न तो शांति स्थापित हुई, और न ही सुशासन। पिछले 60 वर्ष के इतिहास में भारतीय आदिवासियों और सरकार के बीच संघर्ष के अनेक अवसर तब आए जब आदिवासियों को लगा कि भारत सरकार भारतीय वन अधिनियम और भूमि अधिग्रहण अधिनियम बिना सोचे–विचारे लागू करके उनके साथ अन्याय कर रही है। और साथ ही, पांचवीं अनुसूची लागू कर रही है। इस बात पर आदिवासी संगठनों ने व्यापक विरोध प्रदर्शन किये। 1997 का आंध्र प्रदेश का सामता बनाम राज्य सरकार एक अनूठा मुकदमा है जो आंध्र प्रदेश सरकार और एक प्राईवेट कम्पनी के बीच लड़ा गया। ये कंपनी आंध्र प्रदेश के आदिवासी इलाकों से खनिज निकालती थी। मामले को लेकर संविधान सभा में और उच्चतम न्यायालय में बहस हुई जो आज भी एक स्मरणीय मामला है। इस फैसले के जरिये संविधान बनाने वालों को आदिवासी इलाको के बारे में 5वीं अनुसूची का मसौदा तैयार करते समय नीयत का पता चलता है। इसमें कहा गया कि आदिवासियों की जमीन से बेदखल करने की कार्यवाही से रक्षा की जानी चाहिये भले ही संविधान में कोई अन्य शब्द लिखे गये हों। कहा गया कि राज्यपाल को आदिवासियों के हित में काम करना चाहिये और आदिवासियों की जमीन गैर आदिवासियों को नहीं मिलनी चाहिये। हाल हीं में उच्चतम न्यायालय का ओडिशा के नियमगिरि मामले में एक और फ़ैसला आया है जिससे इसी बात की पुष्टि होती है। इस मामले में कहा गया कि आदिवासी ग्राम सभा ऐसे मामलो में फैसला करते समय अंतिम निर्णय करेगी कि वह जमीन जिस काम के लिये ली गई है उससे अलग इस्तेमाल न की जाए। इस फ़ैसले से आदिवासी स्वशासन आंदोलन को मजबूती मिली है।

### लक्ष्य–जिसका वादा है

स्पष्ट है कि अब ज़मीनी स्तर के सुशासन संस्थान दिनोंदिन समस्या बनते जा रहे हैं। आदिवासियों में राजनीतिक चेतना और साक्षरता बढ़ रही है और उनके स्तर तक विकास की गति तेज़ हो रही है। ऐसी हालत में जरूरत इस बात की है कि तीसरे स्तर के लोकतंत्रीय स्थानों को कुछ जिम्मेंदारी संभालने दी जाए। ये जिम्मेदारी राज्य सरकार अथवा केन्द्र की हो सकती है। परिणामस्वरूप अब मुख्यधारा की प्रमुख पार्टीयों में गैर सरकारी संगठनों और अन्य जन संगठनो द्वारा दबाव बनाया जा रहा है। 1992 का 73वां संविधान संशोधन इसी का परिणाम है जिसके द्वारा पंचायती राज्य को कानूनी दर्जा दिया गया। संविधान की धारा 243 एम (4) (2) में अपेक्षा की गई है कि संसद कानून बना कर अनुसूचित क्षेत्रों के किसी भाग में इन प्रावधानों का विस्तार कर सकती है। इस प्रकार से यह पहला मौका था जब केन्द्र सरकार का कोई कानून किसी अनुसूचित

क्षेत्र में अपने आप ही लागू नहीं हो गया। ये भी कहा गया कि इस प्रकार का संसद द्वारा बनाया गया कोई कानून जो साधारण बहुमत से पास किया गया हो, संविधान संशोधन नहीं माना जाएगा। इस विशेष कानून के लिये ये प्रावधान यह मान कर किया गया कि राज्यपाल पांचवीं अनुसूची के प्रावधानों को सशक्त बनाने का प्रावधान लागू करने में विफल रहेंगे।

लेकिन केंद्र सरकार ने इस विशेष अधिनियम को पास करते समय विशेष उत्साह नहीं दिखाया और आखिरकार भारत सरकार ने 73वें संविधान संशोधन के प्रावधानों को अनुसूचित क्षेत्रों तक विस्तारित करने के लिये विशेष अधिनियम पारित करने हेतु एक समिति गठित कर दी। इस विशेषज्ञ समिति नें 1994 में सुझाव दिया कि इस उद्देशय से एक विशेष कानून बनाया जाए जिसके जरिये वर्तमान कानून में परिर्वतन किये जा सकें। इस समिति ने, जिसे अब भुरिया समिति कहा जा रहा है, 17 जनवरी, 1995 को अपनी रिपोर्ट पेश की। इस रिपोर्ट में बुनियादी तौर पर आदिवासी विकास और सुशासन मामलों में आदिवासी ग्राम सभा को सर्वोपरि माना और कहा कि आदिवासियों के छोटे गांव अथवा मौजे किसी ग्राम सभा में रह सकते हैं और यह ग्राम सभा सीधे लोकतंत्रीय ढंग से काम करेगी। जब पीईएसए पास किया गया, तो आदिवासी क्षेत्रों की ग्राम सभाओं को वे सभी अधिकार दे दिये गए जो उनके पास होने चाहिये थे।

### भ्रम और वास्तविकता

पीईएसए के अनुरूप 1997 में मध्य प्रदेश पंचायती राज्य अधिनियम में संशोधन किये गए और इसके अगले साल इन्हें लागू करने के लिये नियम बनाए गए। ग्राम सभा अथवा ग्राम परिषद को निर्णय करने वाली सर्वोच्च संस्था माना गया। इसके अनुसार ही एक विशेष स्थानीय शासन तंत्र बनाया गया जो आदिवासी जीवनशैली तथा संस्कृति के अनुरूप हो और कानूनी मान्यता भी प्राप्त कर सके। पश्चिमी मध्य प्रदेश क्षेत्र में इन प्रावधानों को लागू करने के लिये सारे भील आदिवासी क्षेत्र में समर्थन जुटाया गया।

1999 से इस पूरे क्षेत्र में वर्षा कम हुई। बरवानी और झबुआ जिलों की कुछ तहसीलों में अनावृष्टि के कारण सूखा पड़ गया। अन्य इलाके भी प्रभावित हुए और कई जिलों अथवा तहसीलों को सूखाग्रस्त घोषित करना पडा। बावजूद इसके इन क्षेत्रों के लिये 3 और 4 करोड़ रुपये के बीच की मामूली सहायता राशि मंजूर की गई। बाक़ी इलाकों को भी सहायता के नाम पर कुछ खास नही मिला। आदिवासी संगठनों ने सरकार पर दबाव बनाने के लिये व्यापक विरोध प्रदर्शन किये। मिट्टी और जल संरक्षण की योजनाएं लोगों द्वारा तैयार की गईं और उनहें ग्राम सभाओं की मंजूरी के साथ अगली कार्यवाही के लिये सरकार के पास भेज दिया गया।

इसके परिणामस्वरूप साहूकारों को अपना व्यपार बढ़ाने का मौका मिल गया। अन्य साधनों के अभाव में आदिवासियों को साहुकारों की शरण में जाना पड़ा। उन्हें 10 प्रतिशत प्रतिवर्ष या इससे ज्यादा ब्याज पर ऋण लेना पड़ा। आदिवासी संगठनों ने स्थिति की समीक्षा की और पाया कि इस हालत से छुटकारा दिलाने के लिये सरकार को विभिन्न कानूनों में बदलाव लाना चाहिये और इनके जरिये आदिवासियों को साहूकारों से मुक्ति दिलानी चाहिये। लेकिन इस क़दम के बावजूद जनता को राहत नहीं मिली। कारण यह कि बड़े आदिवासी संगठन कमज़ोर थे और वे पीईएसए के प्रावधानो को लागू नही करा सके। आम तौर पर पीईएसए को लागू करना एक समस्या रही है और अधिकांशतः उनका अस्तित्वः सिर्फ कागज़ पर रहा है।

### भविष्य का कार्यक्रम

भले ही पीईएसए लागू नहीं हो पाया, लेकिन इससे आदिवासी स्वायत्तता को बल मिला और इसके कारण आदिवासी स्वायत्तता की मांग बढ़ी। उच्चतम न्यायालय के फ़ैसलों के बाद आदिवासी ग्राम सभा का पर्याप्त सशक्तीकरण हुआ। न्यायपालिका और मीडिया के कारण यह संभव हो सका कि आधुनिक विकास के लिये आदिवासियों के हितों की अनदेखी करना संभव नहीं है। इस प्रकार से यह सुनिश्चित करने का मौका मिलता है कि आदिवासी क्षेत्रो में जहां विकास योजनायें लागू की जा रही हैं, वहां लोकतंत्रीय उदारवादी सुशासन के बुनियादी सिद्धांतों का उल्लंघन न हो। पीईएसए आदिवासियों की संस्कृति को बढ़ावा देने और उसे बनाए रखने की दिशा में एक महत्वपूर्ण क़दम है और इसके जरिये अधिक सतत संसाधन विकास में प्रयोग किए जा सकते हैं। इस बात के साक्ष्य चियापा देसी आंदोलन मेक्सिकों में देखे जा सकते है। वहां पर पीईएसए को संविधान का मसौदा तैयार करने में संदर्भ की तरह इस्तेमाल किया गया।

माहात्मा गांधी राष्ट्रीय रोजगार गारंटी अधिनियम मनरेगा तथा 2006 में सूचना पाने का अधिकार अधिनियम पास किये जाने के बाद पीईएसए की प्रभावशीलता बहुत बढ़ गई। देशभर में अनेक ऐसे उदाहरण पाए गए जब पांचवीं अनुसूची क्षेत्रों में छोटे संगठनों ने इन कानूनों का सहारा लिया और उनके द्वारा स्वायत्तता की प्राप्ति की। इसी तरह से, अनेक बड़े आदिवासी संगठनों ने लंबे समय तक आंदोलन चलाये जिनके परिणामस्वरूप अनसूचित जनजाति एवं अन्य वनवासी (अधिकार मान्यता) अधिनियम 2006 बनाए गए। इन्हें आमतौर पर वन अधिकार अधिनियम कहा जाता है और इनके जरिये पांचवीं अनुसूची को धार देने की कोशिश की गई तथा आदिवासियों के प्रति किया गया ऐतिहासिक अन्याय दूर करने की कोशिश की गई और ग्राम सभा को सर्वोच्च बना कर भारतीय वन अधिनियम लागू किया गया।

इस समय चल रही बहस से यह बात बहुत साफ हो जाती है कि आखिरकार आदिवासी स्वायत्तता तभी संभव हो पायेगी जब जमीनी स्तर के समुदायों में इसके प्रति जागरुकता लाई जाए। सूक्ष्म स्तर की नीतियां जो आजादी मिलने के बाद बनाई गईं, इस दिशा में सफल नहीं हो पायी और अब आदिवासियों में ही विकेंद्रीकृत स्तर पर इसे लाने के प्रयास हो रहे हैं। खासतौर से उनकी संस्कृति को बचाना होगा जो प्राकृतिक संसाधनों और उनकी संस्कृति की रक्षा के हित में है। इसके जरिये जलवायु परिर्वतन (कुज, 2009) के बुरे प्रभावों को दूर किया जा सकेगा। इसलिये आगे का रास्ता इस प्रकार का होगा कि आदिवासी–उन्मुख कानूनों को और शोधित किया जाये तथा उनका स्वशासन बढ़ाया जाए और संविधान की पांचवीं अनुसुची के अनुसार उन्हें सारी सुविधाएं दी जाएं। यह आदिवासी क्षेत्रों में सुशासन और शांति स्थापना का एक मात्र रास्ता होगा। ❑

**(लेखक एक सक्रिय सामाजिक कार्यकर्ता हैं वे विकास में अनुसंधान करते रहें हैं, साथ ही भील समुदाय के बीच काम करते रहे हैं। ई : मेल**–rahul.indauri@gmail.com)

# चुने उन्हें जिनकी प्रमाणिकता निर्विवाद है।

**धर्मेन्द्र कुमार**
**PATANJALI IAS**
नीतिशास्त्र, सत्यनिष्ठा एवं अभिरूचि

**रजनीश राज**
**SIHANTA IAS**
इतिहास एवं संस्कृति

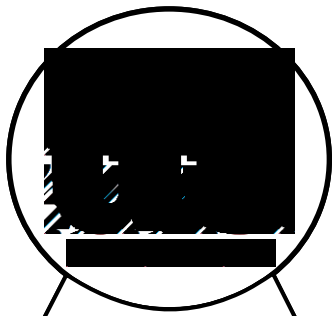

हिन्दी माध्यम
प्रमाणिक, विश्वसनीय एवं सारगर्भित

ज्ञान, अनुभव एवं परिश्रम
के त्रिकोण से निर्मित
अतिविशिष्ट टीम

**राजेश मिश्रा**
**SARASWATI IAS**
राजव्यवस्था, अंतर्राष्ट्रीय संबंध

**आलोक रंजन**
**DIGMANI EDUCATION**
भूगोल, पर्यावरण, आपदा प्रबंधन

**सामान्य अध्ययन**
(मुख्य+प्रारंभिक परीक्षा)
**20 Dec.**
निःशुल्क परिचर्चा
**5:30 pm**

**CSAT**
निःशुल्क परिचर्चा
**18 December**
**1:00 PM**

**Test-Series**
(अखिल भारतीय)
केन्द्र →
- दिल्ली
- इलाहाबाद
- जयपुर
- आगरा

5th Jan

**B-17, 1st Floor, Dr. Mukherjee Nagar**
Email: gsacademy.edu@gmail.com
www.gsacademyedu.in
**8376963001, 8376845001, 9990107573, 9810172345, 9311958009**

YH-213/2013

# खाद्य विधेयक, वन्य आहार और आदिवासी

• मधु रामनाथ

बंगलुरु से 60 किलोमीटर दूर, गंधमर्दन पहाड़ियों की तलहटी में बसा है केंद्रभाटा गांव। हालांकि यह जंगल से भरपूर एक गांव है, लेकिन इसके खेतों में कपास, मकई का रोपण सीमावर्ती नबरंगपुर जिले तक देखा जा सकता है। यहां के ग्रामीणों से चर्चा के क्रम में लकड़ियों और औषधीय पौधों की तस्करी, जो यहां की पहाड़ियों में बहुतायात से पाए जाते हैं और जिनकी ख्याति रामायण काल से है, मेरी रुचि उन खाद्य पदार्थों के बारे में जानने की भी थी, जो यहां के ग्रामीण जंगलों से इकट्ठा करते हैं। जिस घर में हम बैठे थे और लोगों से बात कर रहे थे, उन्होंने बताया कि पिछले चार साल से उन्होंने अरबी खोद कर नहीं खायी है। ऐसा इसलिए नहीं कि अरबी गांव में उपलब्ध नहीं है, बल्कि गांव के युवक और महिलाएं अब अरवी खोदने नहीं, बल्कि वे सिर्फ़ लकड़ियां और बांस इकट्ठा करने ही जंगल जाया करते हैं। जिस–जिस गांव में घूमा, कहानी कमोबेश एक ही तरह की थी। वहां विविध प्रकार के वन्य फलों को चुनने और खाने के क्रम में गिरावट दर्ज़ हुई है। पुरानी पीढ़ी को छोड़ दें, कई लोग तो जंगली खाद्य पदार्थ जैसे मशरूम आदि को पहचानते ही नहीं, जंगलों से चुनते भी नहीं और भोजन के लिए उन्हें गांव से बाहर दिहाड़ी के लिए मजबूर होना पड़ रहा है। इन सबका असर उनकी सेहत पर पड़ रहा है, खासकर कई महिलाएं रक्तहीनता से पीड़ित पाई जा रही हैं।

राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा विधेयक 2013 को इस मंशा से तैयार किया गया है कि इससे लोगों के जीवन चक्र में खाद्य और पोषण सुरक्षा का सूत्रपात हो, यह सुनिश्चित किया जा सके कि लोगों को पर्याप्त मात्रा में गुणवत्तापूर्ण भोजन समुचित दर पर उपलब्ध करायी जा सके ताकि वे गरिमापूर्ण जीवन जीने के कामिबल बन सकें। खाद्य सुरक्षा के लक्ष्य को वर्णित करने वाले 15 अध्यायों में 14 वां अध्याय संवेदनशील समूह जैसे जनजातीय लोग और जनजातीय क्षेत्रों को इंगित करता है। इसकी अनुसूची–2 में पोषण मानकों का जिक्र है, जबकि (1)(द) के तहत अनुसूची 3 में खाद्य उत्पादन हेतु भूमि और जल का विच्छेद रोकने और कृषि को पुनर्जीवित करने के लिए लक्ष्यों और उपायों की वर्णन हैं। पूरे विधेयक में चावल, गेहूं, मोटे अनाज और कुछ कृषि उत्पादों पर फोकस किया गया है और इसमें कहीं भी देश के जनजातीय लोगों द्वारा खाये जाने वाले विविध प्रकार के वन्य और स्वतः उगने वाले वन्य उत्पादों का जिक्र नहीं है। आश्चर्यजनक रूप से विधेयक में इन उत्पादों को छोड़ दिया गया है, जो मध्य भारत जैसे इलाकों में लगभग 400 प्रजातियों[1] में मौजूद हैं और जिन्हें उगाना नहीं पड़ता, सिर्फ चुन कर लाना पड़ता है।

आखिरकार 'सुरक्षा' का अर्थ क्या है? यह खतरे और चिंता से मुक्ति[2] है, जो हमारी खाद्य और पोषण की सुरक्षा की आशावादी स्थिति मुहैया कराता है। और क्या हमारे ग्रामीण और जंगल में रहने वाले लोग पर्याप्त भोजन और पोषण के प्रति असुरक्षा महसूस करते हैं या क्या वे अपने उन संसाधनों के अस्तित्व और पहुंच के प्रति उपलब्धता के आधार पर स्थान विशेष पर अलग–अलग होगा। लेकिन दुर्भाग्य से पिछले दो–तीन दशकों से जहां ज्यादातर लोग खाद्य सुरक्षा के दायरें में आते हैं, वहीं इसे सरकारी नीतियों और उपेक्षाओं के कारण कम महत्व दिया गया है। खनन, नदियों और जलाशयों का प्रदूषण, अधिक मात्रा में पानी और भूमि का विचलन कुछ ऐसे कारण है, जिसने लोगों को खाद्य सुरक्षा विधेयक 2013 को स्वीकार करने पर विवश कर दिया है और इस विधेयक को आवश्यक बना दिया है। जैसा कि ऊपर मध्य भारत के ग्रामीण समुदायों के बारे में उल्लिखत है, भारत के पूर्वोत्तर हिस्से में स्थिति भी कमोबेश एक जैसी ही है। यहां भी पारंपरिक तरीके से लगभग वन्य भोजन के रूप में 400 प्रजातियों का उपयोग किया जाता है, जिनमें अरबी, मशरूम, चौलाई, कंद, जीव, मछलियां, केकड़े और छोटे शिकार आदि शामिल है। इनमें से प्रत्येक का खनिज, विटामिन और सूक्ष्म पोषक तत्वों के रूप में पोषण महत्व है और इनमें से ज्यादातर न उगाये जाते हैं और न दुकानों में मिलते हैं। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि ये खाद्य आर्गेनिक हीं नही बल्कि उससे भी ज्यादा महत्व के हैं और इन्हें गांव के आहारों में, छिछले जल के किनारे, जंगलों के कुछ हिस्सों में और खेतों की मेड़ों के आसपास पाया जाता है।

यह सही है कि कई प्रकार के पूरक खाद्य पदार्थों को जंगलों से इकट्ठा किया जाता है, लेकिन इसे इकट्ठा करने के क्रम में इससे जुड़े स्वास्थ्य और आर्थिक पहलुओं को आधिकारिक रूप से मान्यता नहीं मिल पाती है। वन्य भोजन जैसे मछलियां, केकडें और छोटे शिकार आदि पोषण की कमियों को दूर करते हैं, इनमें से कई के औषधीय गुण भी है और इन सभी को पर्याप्त दक्षता और ज्ञान से परिपूर्ण होने पर ही इकट्ठा किया जा सकता है। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि सरकारें जनजातीय और जंगल में रहने वाले समुदायों के जीवन में सीधे पर्यावरण से प्राप्त होने वाले जंगली भोजन के महत्व को उपेक्षित करती है। दुर्भाग्यवश पिछले कुछ दशकों से जबसे जंगल और कृषि भूमि का विचलन बढ़ा है, खाद्य सुरक्षा और भोजन का अधिकार की अनुगूंज राजनीति में ज्यादा महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगे

(1)–एम रामनाथ, एनरिचिंग द पैलेट, कीस्टोल फाउंडेशन, 2013 (जंगली खाद्य के अभिलेखीकरण पर एक प्राथमिक पुस्तिका)
(2)–लांगमैन माडर्न इंगलिंश डिक्शनरी

है। रेशेदार, अनाज, जो खाद्य सुरक्षा विधेयक के तहत आनेवाले प्रमुख भोज्य पदार्थ हैं, उन्होंने पारंपरिक अनाजों जैसे बाजरा और दालों को विस्थापित कर दिया है और उनके स्थान पर चावल और मकई की संकर नस्लों को जगह मिली है, हम अनजाने ही उगाये जाने वाले भोजन के आगे जंगलों से इकट्ठा किए जाने वाले भोज्य पदार्थों के महत्व को स्थापित करने से पीछे हट रहे हैं।

आदिवासी लोगों द्वारा जंगलों से इकट्ठा किये जाने वाले लगभग सभी खाद्य पदार्थों में मिट्टी और जल के गुणों का जैविक कारण मौजूद होता है और वे सूक्ष्म जलवायु और पारिस्थिकी परिवर्तनों के संकेतक होते हैं। वे नदियों का प्रदूषण (जब कुछ मछलियां गायब हो जाती हैं), जंगलों की छतरी का गायब होना (जब कुछ किस्म के मशरूम उगे हुए नहीं दिखते) मॉनसून की पर्याप्त अवधि, फलों और फूलों के फूलने के समय से गर्मियों की लंबाई आदि का संकेत देते हैं जैसा कि जीव वैज्ञानिक पारिस्थितिकी और मौसम के आकलन में शायद हीं इन प्रजातियों को शामिल करते हैं। स्थानीय अदिवासियों का ज्ञान और उनके जीने का तरीका इस क्षेत्र में हमें महत्वपूर्ण जानकारियों से परिपूर्ण बना सकता है।

कई जंगली खाद्य प्रजातियों को इकट्ठा करने और खाने के लिए विशेष दक्षता की आवश्यकता पड़ती है। मछलियों की गतिविधियों का सटीक अंदाजा लगाया जाना जरूरी होता है, ताकि उन्हें एक विशेष क्षेत्र में लाकर पकड़ा जा सके। कुछ मछलियों को पकड़ने के लिए पौधों में पाये जाने वाले खास किस्म के जहर की जरूरत पड़ती है और इसके लिए यह जानना ज़रूरी होता है कि पौधों का कौन–सा हिस्सा प्रभावी साबित होगा। इसमें कितनी मात्राा की जरूरत है, यह जानना भी जरूरी होता है। ताड़ी का बना जाल प्रयोग करने के लिए पौधों की विषाक्तता की सही जानकारी और इसके समुचित प्रवाह की जानकारी आवश्यक है। कई कंद को खाने से पहले विशेष किस्म की क्रिया करनी जरूरी होती है, ताकि वे खाते वक्त गले में जलन न पैदा करें और उनका दुष्प्रभाव शरीर पर न हो। खाद्य सुरक्षा की मंशा के विपरीत, यह एक इश्तेहार जैसा हो गया है, जो कृषि की बढ़ोतरी को प्रोत्साहित करता है और जिससे आने वाले समय में मिट्टी और जल का प्रदूषण और भी बढ़ेगा। लेखक की मंशा कतई नहीं है कि हर व्यक्ति को खाद्य को संग्रह करने के लिए प्रेरित किया जाए, बल्कि यह स्पष्ट करना है कि खाद्य सुरक्षा नीति से चिपके रहने मात्र से एक बड़ी संख्या में जनजातिय आबादी अपने पारंपरिक ज्ञान से वंचित हो सकती है।

यह महसूस करना भी निहायत जरूरी है कि उपरोक्त खाद्य संग्रहण के तरीकों पर कई तरह से व्यापक खतरा मंडरा रहा है, और सबसे पहला खतरा ग्रामीण और जंगल के निवासी आदिवासी युवाओं का शहरों की ओर पलायन है। जनसंख्या का यह विचलन एक तरह उन प्राकृतिक और सहज संचार प्रणाली को नुक़सान पंहुचा रहा है जिससे परंपरागत ज्ञान और दक्षता कई पीढ़ियों तक समुदाय के अंदर हस्तांतरण हो रही थी और अब यह आबादी धीरे–धीरे खाद्य संग्रह की बजाय अनुदान और दुकानों पर निर्भर होती जा रही है। इस निर्भरता से भोजन के प्रति उनकी अवधारणा में भी बदलाव आ रहा है। इन युवाओं की रुचि अब जंगलों में कम रह गई है। गर्मियों में जंगलों में लगने वाले आग से सुरक्षा के सवाल अनसुलझे रह जा रहे है और जंगलों की तरह उनका रुझान किसी ओर मंशा से हो रहा है। जंगलों में रासायनिक खाद का प्रयोग और कपास, मकई और अन्य नक़दी फसलों का उगाया जाना और भी चिंता की बात है। इनमें उन आदिवासी युवाओं को मतलब नहीं रह गया है। पेसा क्षेत्रों में ग्राम सभा जैसी लोकतांत्रिक और प्रशासनिक व्यवस्थाओं के बावजूद से आदिवासी अपने प्राकृतिक संसाधनों से खुद का अलग करते जा रहे हैं, जिन्हे इनके पूर्वजों ने काफी करीने से संभाला था।

जंगलों में किये जाने वाले खाद्य पदार्थों पर खाद्य विधेयक के प्रभाव से आदिवासी ज्ञान और संस्कृति पर आने वाले समय में पड़ने वाले असर से अनभिज्ञ नहीं रहा जा सकता। यह सही होगा कि राज्य सरकारें परस्पर इस बात का आकलन करें कि 1) वैसे किस तरह के भोजन है, जिन्हे प्रकृति से प्राप्त किया जा सकता है। 2) ये खाद्य पहले की तरह उपलब्ध हैं या उनमें गिरावटा आई है। 3) कुछ प्रजातिया जो पहल पायी जाती थी, क्या अब भी उनकी उपलब्धता है। 4) खास क्षेत्र में किसी खाद्य प्रजाति के समाप्त होने के ज्ञात कारण क्या है, 5) इन क्षेत्रों में ऐसी प्रजातियों को पुनरूज्जवित करने के क्या प्रयास किये गए हैं। इन बातों के प्राथमिक आकलन से, खासकर पूरक खाद्य पदार्थों के आकलन से हमें यह समझने में मदद मिलेगी कि ग्रामीण और जंगली इलाक़ों में खाद्य सुरक्षा की वर्तमान स्थिति क्या है और लोगों के पास क्या कुछ अभी भी उपलब्ध है। जहां डी कंडोल के 'ऑरिजिन ऑफ कल्टीवेटेड प्लांट्स' में 249 प्रजातियों का जिक्र किया गया है, उनमें से मानव कल्याण के लिए शायद ही कुछ जोड़ा गया है, इस बात की बहुत जरूरत है कि जंगली प्रजातियों पर शोध कर यह पता लगाया जाए कि उनमें से कितनी प्रजातियों को घरेलू वातावरण में उगा कर उनका लाभ लिया जा सकता है।

मेरा विरोधाभास सिर्फ़ इतना है कि खाद्य विधेयक को किसी दान या लाभांश से कुछ अधिक के रूप में लोगों को समर्पित किया जाए, खास कर इसके पारिस्थितिकी पर पड़ने वाले प्रभावों को ध्यान में रखते हुए। मध्य भारत के कई गावों में सन् 2003 के बाद अनुदानित अनाज उपलब्ध कराए गए थे, गायों के समूह को गांव के पशुओं की मानिंद कम ही देखा गया है, बल्कि वे ग्रामीण समाज में लगातार आ रहें बदलाओं से गायें अब जंगलों में जाकर चारा चुगने लगी है क्योंकि उन्हे गांवों में चारा कम उपलब्ध होता है। इस थोड़े से बदलाव से पालतू पशुओं का प्रबंधन गड़बड़ा गया है और वे खेतों की फसलों को नुक़सान पहुंचाने लगें हैं। कृषि मजदूर अब ज्यादा मंहगें हो गए हैं, बाड़ें गायब होने लगी हैं, कई खेतों में अब पैदावार ही नहीं होती। बुरी बात यह है कि जहां अनाज अब मुफ्त में मिलनें लगें है, ग्रामीण समुदायों को इन समस्याओं के बारे में सोचने का अवसर ही नहीं मिल रहा।

खाद्य सुरक्षा जहां किताबों में और सच्ची भावनाओं में मददगार साबित होगी, इन तथ्यों के बारें में गहराई से सोचना ज्यादा जरूरी हो गया है। अनुसूची 3 के 1 (डी) जो भूमि और जल के विचलन के संबंध में है, यह भी सुनिश्चित करे कि बासी खाद्य पदार्थ और अन्य पूरक खाद्य भी प्रचुरता से पहुंच में हों। यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि जहां कुछ समुदायों को खाद्य उपलब्ध हो, लेकिन कम से उनकी पारंपरिक दक्षता, पारिस्थितिकी और संस्कृति की भूमिका स्थानिय स्वशासन के परिचालन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती रहे। अंततः मै इस बात पर जोर दूंगा कि अच्छा वन प्रबधंन वनों के उपयोग से ही चल सकता है, खाद्य को इकट्ठा करने का उपक्रम अनवरत बना रहे, लोगों का इस प्रवृत्ति से दूर न होना पड़े और यह तभी होगा, जब अनुदानित किया जाएगा और बांटने की प्रक्रिया में एक सक्षम जीवन शैली शामिल की जायेगी। ❑

**(लेखक वर्तमान में भारत में एनटीएफपी (नॉन टिंबर फॉरेस्ट प्रोडक्ट) विनिमय कार्यक्रम के समन्वयक हैं। ई–मेल** : madelly@gmail.com)

# ऐसा यात्री बैग जिस पर आप बैठ भी सकते हैं

भीड़ भरे बस स्टैंड या रेलवे स्टेशन पर बैठने की जगह पाने में किसने असुविधा का सामना नहीं किया है। यात्रियों की इसी असुविधा को ध्यान में रखते हुए 19 वर्षीय निशा ने एक ऐसे यात्री बैग का मॉडल तैयार किया है जिसमें सामान रखने के साथ–साथ बैठने लायक सीट का भी प्रावधान है। यह डिजाइन बहुत ही हल्का है और सिमट कर एक यात्री बैग का रूप ले लेती है।

निशा एक बहुत ही खुशमिजाज और मेधावी छात्रा है जो हमेशा कुछ न कुछ नया करने को उत्सुक रहती है। वह अपने समय का सदुपयोग करना बखूबी जानती है। अपनी पढ़ाई और शौकों पर उसका संतुलित ध्यान रहता है। निशा को कविताएं लिखने और वाद–विवाद प्रतियोगिताओं में भाग लेना अच्छा लगता है। हाल ही में उसने एक निबंध प्रतियोगिता में भाग लिया और उसमें अव्वल रहीं। इसके लिए उसे उस संस्था की तरफ से छात्रवृत्ति मिली और चीन की यात्रा का मौका भी मिला। लोकप्रिय *दैनिक टाइम्स ऑफ इंडिया* के संपादकीय टीम के साथ भी निशा ने कुछ दिनों तक काम किया और इसी दौरान वहां उसे अन्य छात्रों के साथ विचारों का आदान–प्रदान करने का मौका मिला। वहीं उसने कई लेख भी लिखे जो प्रकाशित भी हुए इसके साथ–साथ निशा एक अच्छी कलाकार भी है और समय मिलने पर चित्रकारी भी करती है। अपनी इन सभी खूबियों का श्रेय निशा अपने माता–पिता को देती है जिंहोने हमेशा उसे प्रोत्साहित किया। उसके माता–पिता ने हमेशा उसे सही सलाह दी और उसकी मार्गदर्शन भी किया।

हालांकि घर में एक छोटे भाई और छोटी बहन के होने से उसे अपने काम पर ध्यान देने में थोड़ी परेशानी का सामना करना पड़ता है। निशा कहती है "हालांकि मेरा भाई बहुत छोटा है मगर काफी शांत है। मेरी बहन 10वीं कक्षा की छात्रा है पर वह बहुत चंचल है और मुझे काफी परेशान करती है। हम दोनों में अक्सर किसी न किसी बात पर झगड़ा होते रहते हैं पर हम जल्द ही घुलमिल भी जाते है"।

## विचार की उत्पति

सीट–युक्त यात्री बैग का विचार जितना रोचक है, उतना ही रोचक है इस विचार की उत्पति, निशा एक बार अपने पैतृक गांव जा रही थी। बस स्टॉप पर बस का इंतजार करते समय उसकी नज़र सड़क के किनारे प्रदर्शित विज्ञापन पर पड़ी। यह विज्ञापन एक यात्री बैग का था जिसमे सुपर स्टार शाहरुख खान को जमीन पर बैठे देखना निशा को अच्छा नहीं लगा। उसके मन में एक विचार आया कि क्या ही अच्छा होता कि बैग में सामान रखने के साथ–साथ बैठने की व्यवस्था होती। उसने सोचा कि यात्रा के दौरान लोगों को बस या ट्रेन का इंतजार अक्सर खड़े होकर करना पड़ता है। ऐसे में अगर उनके बैग के साथ ही बैठनें की सीट भी जुड़ी हो तो कितना अच्छा होता। उसने अपने विचार को एक ढांचे का रूप दिया तथा राष्ट्रीय इनोवेशन फांउंडेशन से संपके किया। इस संस्थान ने कई डिजाइन कंपनियों को इस ढांचे को एक सुंदर और बाज़ार में प्रस्तुत करने लायक उत्पाद के रूप में लाने के लिए आमंत्रित किया। इन कंपनियों ने ऐसे कुल छह ढांचे तैयार किए जिनमें से एक को अंतिम रूप दिया गया। संस्थान ने इस मॉडल को निशा के नाम से रजिस्टर्ड करने के लिए एक आवेदन भी दिया है। आशा की जाती है कि निशा का यह सपना जल्द ही एक ठोस स्वरूप लेकर बाजार में दिखाई पड़ेगा।

## निशा के सपने

फिलहाल निशा बी.टेक कर रही है। उसका कहना है कि इससे उसे अपने नये–नये विचारों को प्रारूप देने में काफी मदद मिलेगी। बी.टेक करने के बाद निशा राष्ट्रीय इनोवेशन संस्थान से जुड़ना चाहती है। उसका कहना है कि "मेरे मन में हमेशा नये–नये विचार आते रहते है और इन विचारों को प्रारूप देने में यह संस्थान मेरी बहुत मदद करेगा। इसके लिए इससे अच्छी जगह हो ही नहीं सकती। ❑

# इस्लामिक बैंकिंग क्या है?

इस्लामिक बैंकिंग इस्लाम के सिद्धांतों पर आधारित है और वह यह है कि उधार दिए गए धन पर ब्याज नहीं लिया जाना चाहिए। इसमें जोखिम और लाभ साझा करने पर जोर दिया गया है, जबकि ब्याज लेने की मनाही है क्योंकि यह उधार देने वाले का उधार लेने वाले पर दबाव बनाता है। जो व्यक्ति उधार लेता है, अक्सर उधार देने वाले व्यक्ति के हाथों शोषण का शिकार हो जाता है। इस्लाम में रुपये–पैसे को संपदा नहीं मानी जाती और इसके जरिये मूल्य का आकलन नहीं किया जा सकता। जोखिम/लाभ साझा करने का एकमात्र उद्देश्य पैसे के रूप में आय कमाना होता है। उधार देने को एक प्रकार से समाज में जिम्मेदारीपूर्ण निवेश माना जाता है।

इस्लाम में ब्याज लेना हराम समझा जाता है क्योंकि यह उधार देने वाले के पक्ष में होता है। इसीलिए इसे इस्लाम में स्वीकार्य नहीं माना जाता। शरिया के हिसाब से कंपनी शेयरों में धन लगाना तभी जायज होता है, जब वह कंपनी जुए, शराब के उत्पादन जैसे निषिद्ध कार्यों में न लगी हो।

इस प्रकार के इस्लामिक बैंकिंग की गतिविधि का चलन इस्लामी देशों में 1960 के दशक में हुआ। 1975 में एक इस्लामिक विकास बैंक की स्थापना की गयी, जिससे सदस्य देशों को निधियां प्रदान की जाती हैं। इसका मुख्यालय जेद्दा (सऊदी अरब) में है और इसके चार क्षेत्रीय कार्यालय मोरक्को, मलेशिया और सेनेगल में हैं। इसका वित्तीय वर्ष हिजरी सन् माना जाता है जो चन्द्रमा की गति पर आधारित है। इस बैंक का मुख्य उद्देश्य इस्लाम के सिद्धांतों के अनुसार सामाजिक आर्थिक विकास को गति देना है। यह बैंक अंश पूंजी में शामिल होता है तथा उत्पादक कार्यों के लिए अनुदान देता है जो सहायता देने वाले देशों की तरफ से होता है। यह बैंक शरिया के मुताबिक संसाधन और जमाएं जुटाता है। यह बैंक विदेशी व्यापार को, खासतौर से पूंजीगत माल में सदस्य देशों के बीच, सहायता करता है। फिलहाल इस बैंक के 56 इस्लामी देश सदस्य हैं। जून 1992 तक इस बैंक की प्राधिकृत पूंजी दो अरब इस्लामी दीनार थी। इस बैंक में अंतर्राष्ट्रीय विकास बैंक का भी एक यूनिट खाता है, जो अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के स्पेशल ड्राइंग राइट के बराबर है। एक रिपोर्ट के अनुसार इस्लामी दर 10 से 15 प्रतिशत प्रतिवर्ष है जो बढ़ रही है। इस्लामिक बैंकों के 300 संस्थान हैं जो दुनिया के 51 देशों में फैले हुए हैं। शरिया के मुताबिक इसकी 822 अरब अमरीकी डॉलर के बराबर संपदा का आकलन किया गया है, जो दुनियाभर की अनुमानित संपदा के 2005 में आधे प्रतिशत के (0.5 प्रतिशत) बराबर थी।

मोटे तौर पर इस्लामिक बैंकिंग के उद्देश्य और कार्य वहीं हैं जो परम्परागत बैंकों के हैं। अंतर सिर्फ यह है कि यह बैंक निष्पक्ष व्यवहार में इस्लामी कानूनों का परिपालन करता है। कुछ इस्लामी बैंकों के बारे में कहा जाता है कि वे शत–प्रतिशत यानि 100 प्रतिशत आरक्षित कोष रखते हैं। इस्लामी बैंकों का दावा है वे पैसा नैतिक ढंग से लगाते हैं और खरीद–फरोख्त नैतिक आधार पर करते हैं। इस्लामी बैंकों को कुछ मुस्लिम देशों में चुनौतियों का सामना करना पड़ता है लेकिन ये चुनौतियां सिर्फ गैर प्राथमिकता क्षेत्रों पर लागू होती हैं।

❑

# ओपन सोर्स सॉफ्टवेयर क्या है ?

ओपन सोर्स इनीशिएटिव (ओएसआई) ऐसा सॉफ्टवेयर है जिसे मुफ्त में इस्तेमाल किया जा सकता है। कोई भी व्यक्ति इसे बदल सकता है अथवा संशोधित या गैर–संशोधित रूप में प्रयोग कर सकता है। ओपन सोर्स सॉफ्टवेयर अनेक लोगों द्वारा विकसित किया जाता है और लाइसेंस लेकर इसे वितरित किया जाता है, जिससे इसे कुछ परिभाषाओं का परिपालन करना पड़ता है। ओपन सोर्स सॉफ्टवेयर ऐसा कम्प्यूटर सॉफ्टवेयर है जिसके कॉपीराइटधारक को अध्ययन, परिवर्तन और वितरण के लिए लाइसेंस लेना पड़ता है।

ओपन सोर्स लेबल की शुरुआत तीन फरवरी 1998 को पालो अल्टो, कैलीफोर्निया (अमरीका) में हुई थी। जिस बैठक में इस लाइसेंस की शुरुआत की गई, उसमें एरिक रेमंड और माइकेल टीमैन भी मौजूद थे। अक्तूबर 1991 में ओएसआई ने औपचारिक रूप से इन अनुमोदित लाइसेंसों की सूची प्रकाशित की। कई थर्ड पार्टियों द्वारा इन्हें इस्तेमाल किया जाता है, इनमें सरकारें और मानक संस्थाएं शामिल हैं। फ्री सॉफ्टवेयर फाउंडेशन के साथ ही ओएसआई भी उन दो संगठनों में शामिल हो गया है, जो ओपन सोर्स विकासकर्ताओं के निःशुल्क उपयोग के पक्षधर हैं। प्रोप्राइटरी सॉफ्टवेयर की तरह इस सॉफ्टवेयरों को इस्तेमाल किया जा सकता है। इसमें बड़ी संख्या में सॉफ्टवेयर विकास शामिल हैं। कोई क्लोज सोर्स सॉफ्टवेयर यह नहीं बताता कि उसने यह सॉफ्टवेयर किस स्रोत से प्राप्त किया है। ओपन सोर्स सिस्टम के अनेक इस्तेमाल हैं और यह दूरसंचार उत्पादों, शैक्षिक अनुसंधानों जैसे अनेक मामलों में उपयोगी सिद्ध हो रहा है।

ओपन सोर्स सॉफ्टवेयर का उद्देश्य है अनेक ओपन सोर्स समुदायों में सम्पर्क बनाना और समाज का भला करना। इस तरीके से इसके प्रतिपादकों का कहना है कि रणनीतिक और आर्थिक सुविधाएं विकसित होती हैं।

ओपन सोर्स सॉफ्टवेयर का इस्तेमाल व्यापारिक उद्देश्यों के लिए भी किया जाता है, लेकिन इस तरीके से इस सॉफ्टवेयर को इस्तेमाल करने वाला अपने उत्पाद पर कोई प्रतिबंध नहीं लगा सकता अथवा जो लोग इस सॉफ्टवेयर को प्राप्त करते हैं उन पर कोई शर्त नहीं लगाई जा सकती। जिस प्रकार से लोग ओपन सोर्स लाइसेंस कार्यक्रम का इस्तेमाल कर रहे हैं, उसे सीमित नहीं किया जा सकता। इस कार्यक्रम या जनसमूह के साथ कोई भेदभाव भी नहीं हो सकता। ओपन सोर्स सॉफ्टवेयर के पक्षधरों ने महसूस किया था कि यह सॉफ्टवेयर विचारप्रधान कम और व्यावहारिक अधिक है। किसी भी प्रोग्राम को ओपन सोर्स तब तक नहीं कहा जा सकता जब तक वह अनुमोदित लाइसेंस का इस्तेमाल न करे। जहां तक पब्लिक डोमेन वाले सॉफ्टवेयरों का सवाल है, यह भी एक ओपन सोर्स है। लेकिन यह मुद्दा कुछ पेचीदा भी है। ओएसआई जैसे संगठनों का कहना है कि वे कोई कानूनी सेवा संगठन नहीं है और आमतौर पर अगर कोई कॉपी राइट लाइसेंस का उल्लंघन करता है, तो ऐसे मामले में कोई मदद नहीं कर सकते।

❑

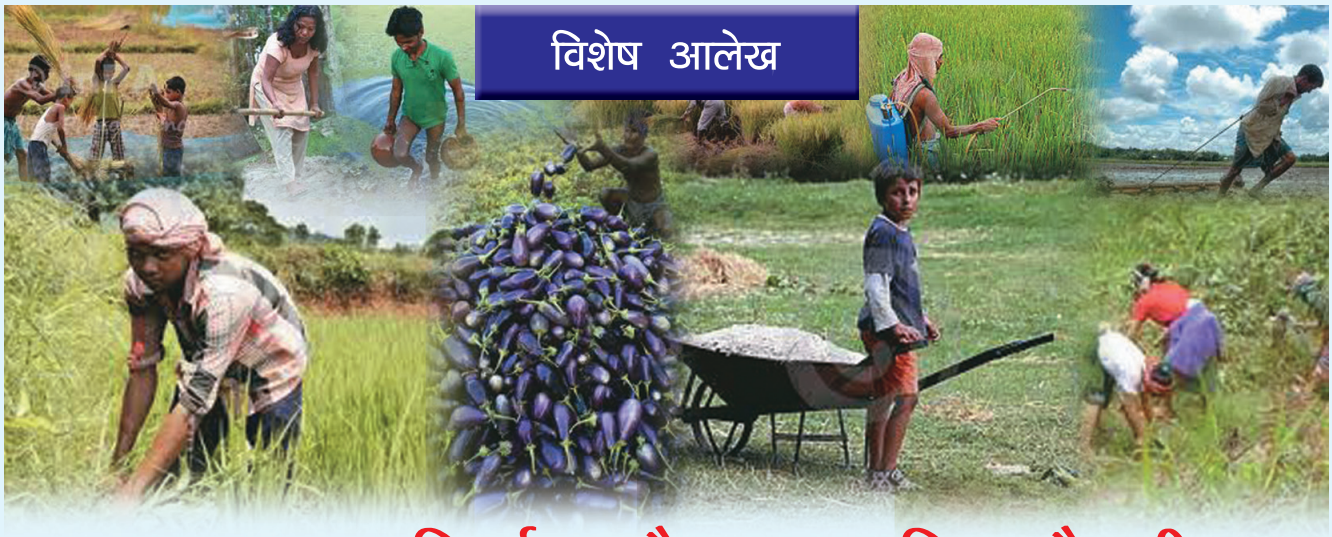


# जलवायु परिवर्तन और प्रशासनिक तैयारी

• सुभाष शर्मा

जलवायु एक शताब्दी और उससे अधिक अवधि में मौसम के रुख के कुल जमा को कहा जाता है। 1992 में रियो पृथ्वी सम्मेलन तथा 1992 के जलवायु परिवर्तन पर संयुक्त राष्ट्र समझौते में यह स्वीकार किया गया है कि दुनिया के विभिन्न हिस्सों में जलवायु परिवर्तन के विभिन्न रूप हैं। इनमें विश्व में गर्मी में तापमान का बढ़ना, सर्दी में कम समय में बहुत ठंड पड़ना, अनियमित रूप से वर्षा होना, बार–बार घना कोहरा छा जाना, एक वर्ष में कुल वर्षा एक समान होने के बावजूद सूखा पड़ना और बाढ़ आना तथा तेजाबी बारिश होना शामिल है। ग्लोबल वार्मिंग (वैश्वि तपन) की गंभीरता को देखते हुए पूरी दुनिया ने इसके ख़तरे को स्वीकार किया है। स्पष्टतः जलवायु स्थानीय परिणामों वाला वैश्विक मामला है। जलवायु प्रणाली को पांच तत्वों – हाइड्रोस्फेयर (जलमंडल), क्रायोस्फेयर (हिममंडल), लैंड सरफेस (भूमंडल) तथा बायो स्फेयर (जीव मंडल) की गतिशीलता और पारस्परिक क्रिया से परिभाषित किया जाता है। जलवायु प्रणाली की गतिशीलता ज्वालामुखी विस्फोट, सौर बदलाव तथा ग्रीन हाउस गैस (जीएचजी) और भूमि के इस्तेमाल जैसी मानवीय गतिविधियों द्वारा परिभाषित होती है। अनुसंधानकर्ताओं का अनुमान है कि 21वीं सदी तक विश्व में तीन से चार डिग्री सेल्सियस तापमान वृद्धि होगी। जलवायु परिवर्तन पर अंतर सरकारी समिति (आईपीसीसी) के मुताबिक 1850 के बाद से सर्वाधिक गर्मी (गिरते क्रम के अनुसार) 1998,2005, 2002, 2003 तथा 2004 में पड़ी। ब्रिटेन के मौसम विज्ञान कार्यालय के अनुसार विश्व का औसत तापमान प्रत्येक दशक में 0–15 डिग्री सेल्सियस की दर से बढ़ रहा है। 2001–2010 का दशक 1991–2000 की तुलना में 0.2 डिग्री सेल्सियस अधिक गर्म था। यानी 1991–2000 में गर्मी 1961–90 में हुई गर्मी 0.24 डिग्री सेल्सियस से ऊपर थीं तो 2001–10 में गर्मी 1961–90 के 0.44 डिग्री सेल्सियस से अधिक थी।

जलवायु पर निम्न कारकों का प्रभाव होता है:

- आकस्मिक सौर विकिरण–अक्षांशीय स्तर पर अंतर –यानी ऊपरी अक्षांशीय स्तर पर ऊर्जा की कमी होती है और निचने अक्षांशीय स्तर पर ऊर्जा की अधिकता होती है।
- नदी–तालाबों (जल संग्रहण क्षेत्रों) से निकटता–भूमि और जल का वितरण।
- पर्वत सीमा यानी महाराष्ट्र, मुंबई तथा पुणे की अलग–अलग पर्वतीय सीमा है इसलिए मुंबई की तुलना में पुणे अधिक सर्द स्थान है।
- समुद्री तापमान और धाराएं।
- ऊंचाई–अधिक ऊंचाई पर ठंड होती है।
- पेड़–पौधों और वनों से आच्छादित भूमि।
- वायुमंडलीय दबाव (वायुमंडल में 78.09 प्रतिशत नाइट्रोजन, 20.95 प्रतिशत ऑक्सीज, 0.93 प्रतिशत ऐरोगन तथा 0.04 प्रतिशत में कार्बन डाईआक्साइड होता है)।

स्पष्ट रूप से जलवायु परिवर्तन की तीन विशेषताएं देखी जा सकती हैं–

क. औसत आकार में भिन्नता

ख. अवधि (काल) से चरणों का अंतर

ग. घटनाओं में बार–बार बदलाव

लेकिन जलवायु परिवर्तन के बारे में अनिश्चितताएं भी हैं। इनमें निम्न हैं:

1. यह स्पष्ट नहीं है कि क्षेत्रीय स्तर पर कैसे जलवायु परिवर्तन में भिन्नता होती है।
2. विभिन्न क्षेत्रों पर जलवायु परिवर्तन का अनिश्चित प्रभाव।
3. ज्वालामुखी जैसे अप्रत्याशित प्रभावों से संभावित आश्चर्यजनक परिणाम।

## मानवीय गतिविधियां तथा जलवायु परिवर्तन

यह एक तथ्य है कि आईपीसीसी–एआर4 के अनुसार 1750 ई. के बाद से कार्बन डॉईऑक्साइड, मिथेन, नाइट्रस ऑक्साइड जैसे विभिन्न ग्रीन हाउस गैसों का कुल एकत्रित प्रभाव पिछले दस हज़ार वर्ष के कुल उत्सर्जन से अधिक था। 1995–2005 में कार्बन डाईऑक्साइड का स्तर 20 प्रतिशत बढ़ा। यह ध्यान देने योग्य है कि जल वाष्प जैसे स्वाभाविक –प्राकृतिक ग्रीन हाउस गैसों भी कुल तापमान वृद्धि में लगभग 50 प्रतिशत का योगदान करती है और इससे धरती पर सभी जीवों के लिए आवश्यक स्थाई जलवायु बनता है। लेकिन पिछले 200 वर्षों में मानवीय गतिविधियों के कारण जी ग्रीन हाउस गैस

उत्सर्जन हुआ है उससे स्थाई जलवायु पर प्रभाव पड़ा है। औद्योगिक देशों की अधिक खपत आदत से यह गंभीर स्थिति उत्पन्न हुई है। विशेष रूप से कहें तो विश्व स्तर पर कार्बन डाईऑक्साइड का मानवीय उत्सर्जन बढ़कर 38 गीगाटन (जीटी) हो गया है और जीवाश्म इंधन से उत्पन्न उत्सर्जन 30.6 गीगाटन पर पहुंच गया है। यह अनुमान है कि औद्योगीकरण से पहले के 280 पीपीएम वायुमंडलीय कार्बन डाई–ऑक्साइड का जमाव 2010 में बढ़कर 390 पीपीएम हो गया। यह औद्योगीकरण पूर्व की अवधि के 560 जीटी की तुलना में कार्बन डाई–ऑक्साइड के 780 जीटी के बराबर है। कीलिंग और शेट्र्ज के अनुसार अतिरिक्त कार्बन डाई–ऑक्साइड ने वैश्विक तापमान वृद्धि में 55 प्रतिशत का योगदान किया है और संतुलन अन्य ग्रीन हाउस गैस से बना है। नाइट्रस ऑक्साइड का प्रभाव अधिक खतरनाक है। एक किलो नाइट्रस ऑक्साइड वैश्विक तापमान वृद्धि पर एक किलो ग्राम कार्बन डाई–ऑक्साइड से 300 गुना अधिक प्रभाव डालता है। कृषि नाइट्रस ऑक्साइड उत्सर्जन का सबसे बड़ा स्रोत है। जब नाइट्रोजन युक्त ऊर्वरकों (यूरिया, अमोनियम तथा अन्य) का इस्तेमाल जमीन में किया जाता है तो एक तरह की रासायनिक प्रतिक्रिया होती है। जब पौधे नाइट्रोजन को एनओ3 के रूप में लेते हैं तब एनओ 2–नाइट्रस ऑक्साइड–वायुमंडल में चला जाता है और परिणामस्वरूप वैश्विक तपन में वृद्धि होती है। दुर्भाग्यवश एनओ2 के अणु 120 वर्षों तक वायुमंडल में बने रहते हैं। भारत के हरित क्रांति वाले क्षेत्रों पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश ने इस मामले को गंभीर बना दिया है क्योंकि बौंने गेहूं के चमत्कारिक बीजों को अधिकमात्रा में नाइट्रोजन युक्त खाद की जरूरत होती है और इसका नतीजा यह होता है कि मिट्टी की गुणवता खराब होती है, जल स्तर में कमी आ जाती है, जल और भूमि में खारापन आ जाता है तथा जैव–विविधता में गिरावट आती है। आईपीसीसी का मानना है कि शीर्ष उत्सर्जन में हर प्रकार के विलंब से तापमान में 0.5 डिग्री सेल्सियस की वृद्धि होती है। आज के ग्रीन हाउस गैस उत्सर्जन का परिणाम आने वाले दशकों में पूर्ण तापमान वृद्धि के रूप में होगा। भारत में सीओ2 जीवाश्म ईंधन 56 प्रतिशत ग्रीन हाउस गैस उत्सर्जन में सहायक होता है। 2005 में सीओ2 का वैश्विक प्रतिव्यक्ति उत्सर्जन 4.5 टन था। 2030 में भारत में सीओ2 का प्रतिव्यक्ति उत्सर्जन 5 टन होगा।

जैविक विविधता के बारे में संयुक्त राष्ट्र समझौते के अनुसार निम्न स्वाभाविक परिवर्तन हुए हैं:

- विश्व में औसत समुद्री स्तर 10–20 सेंमी बढ़ा है। (वर्तमान वार्षिक वृद्धि दर 3 एमएम है)
- स्वीट्जरलैंड मे ग्लैशियरों की मात्रा 2/3 कम हुई है।
- गर्म मौसम के अंत तथा शरद के प्रारंभ में उत्तरध्रुवीय बर्फ़ की चादर की मोटाई में लगभग 40 प्रतिशत की कमी आई है।
- माउंट किनया की बर्फ मात्रा में 92 प्रतिशत की कमी हुई है जबकि माउंट की बर्फ मात्रा में 82 प्रतिशत की कमी हुई है।
- नाइजेर, लेकचैड और सेनेगल के जल ग्रहण बेसिन में कुल उपलब्ध जल में 40–60 प्रतिशत की कमी आई है।
- बलुआई समुद्री रेखा 70 प्रतिशत पीछे हटी है।
- अलास्का की उत्तरी वन रेखा के 100 किमी उत्तर गति में तापमान में एक डिग्री की बृद्धि।

यदि पूरी दुनिया के ग्रीन हाउस गैस उत्सर्जन को देखें तो पाते हैं कि चीन, अमरिका, यूरोपीय यूनियन और भारत सबसे अधिक उत्सर्जन वाले देश हैं (तालिका 1)।

### तालिका–1

**2006 में विभिन्न देशों में वैश्विक ग्रीन हाउस गैस (जीएचजी) उत्सर्जन**

| क्रम | देश | कुल जीएचजी उत्सर्जन (प्रतिवर्ष मिलियन टन) | वैश्विक जीएचजी उत्सर्जन का प्रतिशत में |
|---|---|---|---|
| 1. | चीन | 6017 | 21.8 प्रति, |
| 2. | अमरिका | 5902 | 20.3 प्रति, |
| 3. | रूस | 1704 | 05.7 प्रति, |
| 4. | यूरोपीय यूनियन | उपलब्ध नहीं | 24.5 प्रति, |
| 5. | भारत | 1293 | 04.7 प्रति, |

अनुमान है कि भारत में 2020 में सीएचजी उत्सर्जन प्रतिवर्ष 1293 टन से बढ़कर 2750–3600 टन हो जाएगा और 2031 में यह 4900–5700 प्रतिवर्ष टन हो जाएगा। भारत का उत्सर्जन ब्योरा यह बताता है कि बिजली खपत से सबसे अधिक (37.8 प्रति) उत्सर्जन होता है जबकि कृषि से 17.6 प्रति. परिवहन से 7.5 प्रति. आवासीय क्षेत्र से 7.2 प्रति. सीमेंट से 6.8 प्रति तथा लौह इस्पात आदि से 6.2 प्रति। विस्तृत विवरण के लिए तालिका 2 देखा जा सकता है।

### तालिका 2

भारत में जीएचजी उत्सर्जन (2007)

| | क्षेत्र | उत्सर्जन प्रतिशत |
|---|---|---|
| 1. | बिजली | 37.8 प्रति. |
| 2. | कृषि | 17.6 प्रति. |
| 3. | परिवहन | 7.5 प्रति. |
| 4. | आवासीय क्षेत्र | 7.2 प्रति. |
| 5. | सीमेंट | 6.8 प्रति. |
| 6. | लौह–इस्पात | 6.2 प्रति. |
| 7. | अन्य ऊर्जा | 5.3 प्रति. |
| 8. | अन्य उद्योग | 8.7 प्रति. |
| 9. | कचरा | 3.0 प्रति. |
| | कुल | 100 प्रति. |

स्रोतः एमओएफएफ

यह उत्सर्जन का राष्ट्रीय ब्योरा है लेकिन राज्यों के उत्सर्जन ब्योरे अलग–अलग हैं। उदाहरण के लिए दिल्ली में वाहन कुल उत्सर्जन में 46 प्रतिशत (एक वर्ष में 15.41 मिलियन टन) योगदान करते हैं क्योंकि सभी महानगरों से अधिक वाहन दिल्ली में है। हरियाणा, पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में खर–पतवार जलाये जाने से दिल्ली में कई वर्षों से धुंए की मोटी परत बन रही है। यह स्थिति तब और ख़राब होती है जब वाहन प्रदूषण के साथ धुंल–धुएं का मिश्रण हो जाता है। 26 अक्टूबर 8 नवंबर, 2012 के दौरान वातावरण में धुआं फैल जाने से सांस और अस्थमा की बीमारी उभर गई थी।

भारत में वायु प्रदूषण से सालाना 6–20 लाख लोग मर जाते हैं। विश्व में वायु प्रदूषण से 32 लाख लोगों की मृत्यु होती है। तालिका 3 में दिल्ली की प्रदूषण स्थिति देखी जा सकती है।

**तालिका–3**

**दिल्ली में जीएचजी उत्सर्जन स्थिति (2007)**

| | क्षेत्र | उत्सर्जन प्रतिशत में |
|---|---|---|
| 1. | परिवहन | 46 प्रति |
| 2. | घरेलू | 34 प्रति |
| 3. | वाणिज्यिक | 12 प्रति |
| 4. | उद्योग | 8 प्रति |
| | कुल | 100.00 प्रति |

अभी वैश्विक शहरी आबादी 50 प्रतिशत से अधिक है। शहरों के लोग खाद्यान्न, जल, शरण, परिवहन, ऊर्जा तथा संचार के लिए संस्थागत, वातावरण तथा भौतिक प्रणाली पर निर्भर करते हैं। यह सुविधाएं स्थानीय क्षेत्र से बाहर से आती हैं जहां विभिन्न तरीक़ों से जलवायु परिवर्तन होता है। नि–संदेह तापमान बढ़ने से मानवीय उत्पादकता, स्वास्थ्य तथा ऊर्जा पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। भारत की शहरी आबादी प्रतिवर्ष 70 लाख की दर से बढ़ रही है। दिल्ली की आबादी प्रतिवर्ष 5 लाख की दर से बढ़ रही है। इस वृद्धि से न केवल रेफ्रीजेरेटरों, एसी तथा कूलरों की मांग बढ़ रही है बल्कि सड़कों पर भारी वर्षा होने से कई शहरों में पानी भर जाता है और परिवहन व्यवस्था चरमरा जाती है। दिल्ली और मुंबई में जलजमाव नई लेकिन गंभीर घटना के रूप में उभरा है। दिल्ली में 5.5 प्रतिशत शहरीकरण हुआ है और अनुमान के मुताबिक 2021 में यहां 85 प्रतिशत शहरीकरण जो जाएगा। यदि यही हालत बनी रही तो दिल्ली की उत्सर्जन स्थिति बहुत बुरी हो सकती है। लेकिन यह भी काबिले गौर है कि सेंटर फार साइंस एंड इनवायरमेंट जैसे सिविल सोसायटी संगठन के दबाव के कारण तुलनात्मक दृष्टि से स्वच्छ ऊर्जा – सीएनजी का बस, टैक्सी तथा ऑटोरिक्शा में इस्तेमाल शुरू हुआ। 2007–12 के दौरान पटना जैसे राज्यों की राजधानियों में निजी वाहनों की तादाद कई गुना बढ़ी है और इससे वाहन प्रदूषण उत्पन्न हुआ है और वातावरण प्रदूषित हुआ है। अनुमान है कि भारत में रोजाना सड़कों पर 1,375 नये वाहन लाए जाते है। इसलिए वाहन उत्सर्जन प्रमुख चिंता का विषय है। एक अनुमान के मुताबिक वैश्विक–राष्ट्रीय उत्सर्जन का 75 प्रतिशत ऊर्जा संबंधी स्रोतों से होता है। भारत में 86 प्रतिशत ऊर्जा जीवाश्म ईंधन से मिलती है। अविचारित और अंधाधुंध बदलाव से शहरी क्षेत्रों में जल, साफ–सफाई, खाद्यान्न, शिक्षा, स्वास्थ्य जैसी सुविधाओं पर दबाव पड़ेगा। इसलिए यह गंभीर विचारणीय विषय है कि शहरी आबादी कैसे जलवायु परिवर्तन के बुरे प्रभावों से जूझते हैं, कैसे इस परिवर्तन से तालमेल करते हैं और कैसे इससे निपटते हैं। इसलिए महानगरीय तथा छोटे शहरों की अनियोजित वृद्धि को सही ढांचे और प्रक्रिया से दुरुस्त करना चुनौतीपूर्ण है। मारकस माएंख ने सही ही कहा है कि जलवायु परिवर्तन के प्रति शहरी संवेदनशीलता कमजोर प्रणाली, हाशिये पर खड़ी आबादी तथा जलवायु परिवर्तन के प्रभाव के कारण बढ़ती है। उदाहरण के लिए तटीय शहरों में रहने वाले अमीर लोग अचानक आए तूफान, चक्रवात तथा समुद्री स्तर में हुई वृद्धि की स्थिति में कम खुले शहरों में रहने वाले गरीबों की तुलना में अधिक मूल्यवान होते हैं। दूसरी ओर तूफान, चक्रवात और समुद्री स्तर में वृद्धि से जब कृषि उत्पादन पर प्रभाव पड़ता है तब शहरों में रहने वाली गरीब आबादी पर खाद्यान्न मूल्य वृद्धि से अधिक प्रभाव पड़ता है और समुद्री स्थानों पर रहने वाले अमीर लोग इस प्रभाव को देखते भी नहीं। उदाहरण के लिए हाबड़ा का तटीय वातावरण और वनस्पति का तूफान और तेज़ हवा से सामना होता है। इसलिए निचले इलाक़ों तथा नदियों से सटे इलाकों में रहने वाले गरीब लोग तटीय वायुमंडल का रखरखाव न होने से प्रभावित होते हैं। उत्तर प्रदेश के गोरखपुर में मध्य गंगा बेसिन के निचले क्षेत्रों में जल जमाव तथा बाढ़ की गंभीर समस्या होती है। ऐसी वर्षा में बदलाव तथा जलाशयों में कमी, अनियोजित विकास तथा भूमि अतिक्रमण से होता है। जलशोधन संयंत्र की कमी से ठोस कचरे की समस्या, नालियों में गाद जमने से जल क्षेत्रों में गंभीर प्रदूषण होता है। मध्य प्रदेश के इंदौर शहर में पर्याप्त जल आपूर्ति में कमी से इस क्षेत्र में निजी क्षेत्र का प्रवेश नब्बे के दशक में ही हो गया और यह क्षेत्र कुल पेयजल की आपूर्ति का 10 प्रतिशत आपूर्ति करता है। अशोधित जल आपूर्ति से स्वास्थ्य समस्यांए उत्पन्न हो रही हैं और शिकायत निवारण की कोई कारगर प्रणाली नहीं है। इसके अलावा पुरानी और खराब गुणवत्ता वाले जल आपूर्ति पाइप नालियों और क़चरों में मिल जाते हैं। इससे प्रदूषण की वर्तमान समस्या और अधिक बढ़ जाती है। इस तरह जल आपूर्ति तथा सीवरेज प्रणाली की नीति सीवरेज आपूर्ति तथा जल प्रदाय प्रणाली में बदल जाती है। जलवायु परिवर्तन से यह अराजक स्थिति और खराब होगी। भारत में कृषि पर 60 प्रतिशत आबादी निर्भर करती है

और कृषि क्षेत्र जलवायु संबंधी विभिन्न घटनाओं से नुक़सान में रहा है :

- 60 प्रतिशत कृषि क्षेत्र भूकंप संभावना क्षेत्र बन गया है।
- 40 प्रतिशत कृषि को बाढ़ से नुक़सान होता है।
- 68 प्रतिशत कृषि क्षेत्र में सूखा पड़ जाता है।
- 76 प्रतिशत तटीय क्षेत्र तूफान से संभावित नुकसान वाले क्षेत्रों में आते हैं। (800 कि. मी. कुल तटीय क्षेत्र)

**कमज़ोर पक्ष**

एक ओर विभिन्न शेयर धारक कमजोरी की धारणा को अपनी अपनी दृष्टि से देखते हैं तो दूसरी और देश के विभिन्न क्षेत्रों/राज्यों मुद्दे, उसकी तीव्रता और सीमा में भिन्नता अलग–अलग होती है।

स्थान (धाराओं) तथा विभिन्न स्तरों (समुदाय, जिला और राज्य) की अलग–अलग धारणाएं हैं। उदाहरण के लिए उत्तर भारत के गंगा बेसिन में जलवायु परिवर्तन अपनाने संबंधी अध्ययन में निम्न भिन्न धारणाएं प्रकट हुईः

- प्रतिकूल प्रवाह वाले मामले में खाद्य सुरक्षा प्रबंधन अच्छा होता है जबकि सूखे की संभावना वाली मध्यधारा तथा प्रवाह अनुकूल मामले में जल संरक्षण भंडारण तथा आजीविका विविधीकरण के विषय महत्वपूर्ण होते हैं। उनके विकल्प को हरित उपाय कहते हैं। इस उपाय में छोटे स्तर पर जल प्रबंधन तथा वर्षा जल का बेहतर इस्तेमाल शामिल किया जाता है। गंगा बेसिन के लिए ब्लू उपाय (बड़े स्तर पर जल भंडारण डैम बनाना) कम उपयोगी माना जाता है।

. प्राथमिकता के तौर पर विकल्पों को अपनाने में जिला और राज्य स्तर पर हितधारक लागत को मुख्य मानक मानते हैं। विपरीत ध ाारा के मामले में जिला स्तर के हितधारकों को लिए तटबंधों को मज़बूत बनाने जैसे उच्च लागत वाले विकल्प कम प्राथमिकता के होत हैं। इसी तरह बाढ़ क्षेत्रों से लोगों के हटाने को कम प्राथमिकता दी जाती है क्योंकि इसमें अधिक लागत आती है और इसे लोगों की सामाजिक स्वीकार्यता कम होती है।

- राज्य और जिला स्तर पर हितधारक वर्तमान कार्यक्रमों/योजनाओं के साथ तालमेल को प्राथमिकता देते हैं।
- लोग जल भंडारण ढ़ांचे जैसे तात्कालिक लाभों को वरीयता देते हैं और वन लगाने जैसे दीर्घकालिक उपायों की अनदेखी करते हैं।
- सामाजिक स्वीकार्यता मामले जिला स्तर के अधिकारी धान उत्पादन की जगह कम जल खपत वाली फसलों (दालें, सब्जियों) पर जोर देते हैं लेकिन समुदाय इसे निचले स्तर पर मानता है।
- क्षमता में अंतर होने तथा समर्थन करने वाले संस्थानों में विश्वास की कमी से किसान नई तकनीक और नए व्यवहारों की प्राथमिकता नहीं देते।

कमज़ोरी के मामले में तीव्रता अनुपात और सीमा विभिन्न राज्यों की अलग–अलग होती है। उदाहरण के लिए बिहार में 73 प्रतिशत क्षेत्र बाढ़ संभावना वाले क्षेत्र हैं, 17 प्रतिशत सूखा संभावना वाले क्षेत्र और 10 प्रतिशत जल जमाव वाले क्षेत्र हैं। 2013 में (जून–अक्तूबर) अनेक जिलों में सूखा पड़ गया जबकि 5 से 6 जिले बाढ़ की चपेट में आ गए। उत्तर बिहार की नदियों का 85 प्रतिशत जलागमन क्षेत्र बिहार (विशेषकर नेपाल) के भीतर पड़ता है। कोसी नदी को बिहार का शोक कहा जाता है। तीन तरह की नदियों के कारण बिहार को बाढ़ झेलनी पड़ती है।

- कोसी, गंडक, करनाली (घाघरा) तथा महाकाली (शारदा) जैसी निरंतर बहने वाली नदियों का उद्गम हिमालय है और ये नदियां सूखे मौसम में भी बर्फ से पिघले पानी से भरी रहती हैं।
- मेछी, कान्काई, कमला, बागमती, पश्चिम राप्ती तथा स्वई का उद्गम स्थल महाभारत श्रृंखला के पर्वत हैं। ये नदियां भूजल के फिर से ऊपर आने से भर जाती हैं हालांकि यह नदियां बारहमासी हैं लेकिन इनमें मौसमी उतार–चढ़ाव से भी पानी भरता है।
- दक्षिणी शिवालिक श्रृंखला पर्वतों से निकली छोटी नदियां मौसमी नदियां हैं और इनमें मानसून के दौरान अचानक बाढ़ आ जाती हैं।

वास्तव में उत्तर बिहार के सभी 21 जिले नेपाल में आनेवाली बाढ़ से प्रभावित होते हैं। इसलिए स्थानीय लोग सरकारी सहायता को तीसरी फ़सल मानते हैं और सहायता का इंतजार करते हैं।

**जलवायु परिवर्तन के असर कम करने के उपाय**

जलवायु परिवर्तन के बारे में प्राथमिकता को लेकर राज्यों के अपने–अपने मसले हैं। राज्य जलवायु परिवर्तन प्रभाव को कम करने के लिए विभिन्न चरणों में राज्यों कार्ययोजना बनाते हैं। सितंबर 2013 तक भारत के केवल 20 राज्यों ने इसे तरह की कार्य योजना तैयार की। ओडिशा ने सबसे पहले यह काम किया। गुजरात एकमात्र राज्य है जहां जलवायु परिवर्तन का अलग विभाग है। दो तरह के प्रमुख उपाय अपनाए जाते हैं –नियोजित तथा अनियोजित उपाय। नियोजित उपाय का अर्थ है–वांछित लक्ष्य के लिए सोच समझ कर नीतिगत निर्णय लेना जैसे नमी वाली जमीन की पुर्नस्थापना, तूफान के प्रभाव को कम करना आदि। वास्तव में उपाय कम करने की चार प्रमुख दिशाएं है:

1. उद्देश्य : स्वायत्त या नियोजित।
2. कार्रवाई : बाद की, उस समय की और प्रत्याशित स्थिति की।
3. सावधि : अल्प अवधि या दीर्घ अवधि।
4. स्थानिक : स्थानीय या व्यापक

जानकारी पूर्ण और सचेत लोग नियोजित, प्रत्याशित तथा स्थानीय उपाय को प्राथमिकता देतें हैं ताकि तत्काल परिणाम निकले। भारत में विभिन्न राज्यों द्वारा निम्न उपाय किए जाने की ज़रूरत है।

**पहलाः** हम निचले स्तर से नियोजित की नीति अपनानी चाहिए ताकि स्थानीय और क्षेत्रीय ज़रूरतों को पूरा करने के लिए वास्तविक और खास उपाय मिल सकें। स्वामीनाथन फाउंडेशन तथा इफको किसानों को हेल्पलाइन उपलब्ध करा रहे हैं। इसी तरह नई दिल्ली के टेरी द्वारा डिज़ाइन की गई सौर बायोमास आधारित तकनीक सफल रही है और फिजी ने इसे अपनाया है।

**दूसराः** क्षमता निर्माण (विकासशील देशों में तकनीकी दक्षता विकसित करने तथा संस्थागत क्षमता विकसित करने) को मानसून पूर्व, मानसून, मानसून बाद तथा सर्दी के मौसम में कृषि क्षेत्र के लिए उच्च प्राथमिकता

दी जानी चाहिए। बाढ़ पूर्वानुमान, बाढ़ रोकथाम उपाय करने तथा बाढ़ क्षेत्र तय करना समय की ज़रूरत है। भारत में मौसम का पूर्वानुमान व्यक्त करना अब सटीक नहीं रहा है इसलिए तकनीकी आविष्कार की बहुत आवश्यकता है। स्थल विशेष भूमि की मॉडलिंग, भूमि की पौष्टिक स्थिति तथा फसल जल दबाव को सम्मिलित कर मौसम पूर्वानुमान व्यक्त किया जाना चाहिए। जल निकासी प्रणाली में सुधार किया जाना चाहिए ताकि अचानक वर्षा की स्थिति से निपटा जा सके। सूखा करने के दौरान जल आपूर्ति के लिए बड़ी जल भंडारण प्रणाली विकसित की जानी चाहिए। भूंकप, तूफान तथा हवाओं को रोकने के लिए ढांचे बनाए जाने चाहिए। निचले इलाकों में तटबंध बनाए जाने चाहिए।

**तीसराः** स्वच्छ विकास प्रणाली (सीडीएम) डिज़ाइन तैयार करने में भारत को चार आवश्यक पहलुओं को ध्यान मे रखना चाहिए। ये पहलू हैं–सामाजिक कल्याण (गरीबी दूर करके, अतिरिक्त रोज़गार सृजन करके, सामाजिक विसंगतियां दूर करके तथा जीवन की गुणवत्ता में सुधार के लिए बुनियादी सुविधाएं देकर): आर्थिक कल्याण (लोगों की जरूरतों के अनुरूप अतिरिक्त निवेश करके): पर्यावरण कल्याण (संसाधन को बनाए रख कर, जैवविविधता के योग्य माहौल बना कर, प्रदूषण स्तर में कमी करके, बेहतर साफ सफाई): तकनीकी कल्याण (पारिस्थितिक दृष्टि से सुरक्षित तकनीक का हस्तांतरण करके, तथा ऊर्जा–दक्ष परियोजनाएं शुरू कर)। स्वच्छ विकास प्रणाली को व्यापक बनाया जाना चाहिए तथा इसमें स्थानीय स्तर पर लोगों की भागीदारी होनी चाहिए। फिलहाल इस प्रणाली में भारतीय कॉरपोरेट घरानों का दबदबा है। इसलिए भारत स्वच्छ विकास प्रणाली की परियोजनाओं के नियमन के लिए मज़बूत, पारदर्शी तथा सक्रिय नियामक करने व्यवस्था करने की जरूरत है ताकि इस बात की सघन जांच हो सके कि ऐसी परियोजनाएं पर्यावरण एवं स्थानीय लोगों के लिए मित्रतापूर्ण हों।

**चौथाः** हरित भारत मिशन, संयुक्त वन प्रबंधन समिति, वनवासियों के अधिकार कानून, समुदाय वन प्रबंधन को बढ़ावा देने के लिए भारत प्रतिबद्ध है लेकिन व्यवहार में प्रदूषण उत्सर्जन कम करने के नाम पर वन अधिकारी स्थानीय समुदाय का शोषण करते हैं। दूसरी ओर वन अधिकारियों, ठेकेदारों और व्यापारियों का गठजोड़ फल–फूल रहा है और सरकार स्थानीय लोगों के विरोध के बावजूद निजी क्षेत्र को उदारता पूर्वक वन, जमीन, जल तथा खदान आवंटित कर रही है। इसलिए उपायों को अपनाने में पूरी पारदर्शिता की जरूरत है। ऐसी पारदर्शिता तब आएगी जब लोगों को कमजोर पक्षों के बारे में ज़मीनी वास्तविकताओं से अवगत कराया जाये और उनके सामूहिक अनुभव और सूचना आधारित पंसद को वजन देकर जलवायु परिवर्तन के दुष्प्रभावों को उन्हे शामिल किया जाए।

**पांचवांः** लोगों के हितों की जगह कारपोरेट हितों की रक्षा करने वाले नव उदारवादी विकास मानक की जगह जनभागीदारी वाले वैकल्पिक विकास मानक तैयार किया जाना चाहिए जिसका जोर जनभागीदारी, राजनीतिक विकेंद्रीकरण, सामाजिक समानता, आर्थिक समृद्धि, तकनीकी सामर्थ्य, पारिस्थितकी स्थायित्व तथा लोगों खासकर, गरीब लोंगों की स्वीकार्यता पर होगा। विकास के ऐसे वैकल्पिक उपायों में सक्रिय नीति की ज़रूरत होती है। ऐसी नीति स्थानिय लोगों, सिविल सोसाइटी संगठन को निचले स्तर शामिल करके बनाई जा सकती है और इसमें पारस्परिक विश्वास के साथ–साथ सरकार, सिविल सोसाइटी संगठन तथा आमलोगों की भागीदारी हो न कि कथित सार्वजनिक–निजी–भागीदारी जिसमें वास्तविकता का अर्थ होता है–निजी क्षेत्र के लाभ के लिए सार्वजनिक कोष से धन उगाही। इसलिए जलवायु परिवर्तन के अनुकूल ढालने के लिए सीखने की बात साझा करना भागीदारी प्रक्रिया का मूल है। शेयरधारकों के बीच वाद–संवाद की खाई को पाटने की जरूरत है। यह सच है कि भवनों की ऊर्जा कुशलता बढ़ाकर, ठोस कचरा प्रबंधन कर और सार्वजनिक परिवहन अपनाकर शहरी बसावट की स्थिरता बनाए रखने के बारे में बने राष्ट्रीय मिशन के प्रति भारत प्रतिबद्ध है लेकिन इस मिशन के लागू करने में भारी अंतर है। चूंकि बचाव ही निदान है इसलिए तबाही को लेकर प्रारंभिक चेतावनी प्रणाली पूरी तरह विकसित की जानी चाहिए।

**छठाः** भारत सरकार, निजी क्षेत्र, स्वयंसेवी संगठन तथा सिविल सोसायटी संगठनों को विभिन्न तरीके से नागरिकों, अंतर्राष्ट्रीय स्वयंसेवी संगठन तथा बहुपक्षीय एजेंसियों को सामूहिक रूप से संगठित करना चाहिए ताकि विकसित देश जलवायु परिवर्तन अपनाने में आई विकासशील देशों की लागत खर्च का वहन करें क्योंकि विकसित देशों ने ही ऐतिहासिक गलतियां की हैं। भारत को यूएनएफसीसीसी जैसे अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर अधिक कार्बन क्षेत्र के लिए मजबूती के साथ विशेष रूप से अपना अधिकार मांगना चाहिए क्योंकि भारत का प्रतिव्यक्ति उत्सर्जन अमरिका, रूस, यूरोपीय यूनियन, जापान और चीन की तुलना में काफी कम है। भारत को उक्ति और भावना के अनुसार समान लेकिन विशिष्ट दायित्व के सिद्धांत पर कायम रहना चाहिए ताकि विकासशील देश विकसित देशों से स्वच्छ तकनीकी हस्तांतरण सुविधा तथा जलवायु परिवर्तन अपनानें के लिए आवश्यक धन पा सकें क्योंकि पहले भी विकसित देशों ने अधिक उत्सर्जन किया है और आज भी वे प्रतिव्यक्ति अधिक उत्सर्जन कर रहें हैं। भारत को स्वेच्छा से लेड, सीएनजी टेक्नोलॉजी अपनानी चाहिए। उसे ग्रीन बिल्डिंग बनाने, टिकाऊ बिल्डिंग और ऊर्जा कोड बनाने, सार्वजनिक परिवहन तथा साइकिल, रिक्शा, ऊंट, घोड़े, बैलगाड़ी जैसे मोटर रहित परिवहन को प्रोत्साहित करने के लिए समन्वित दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। भारत को पवन तथा सौर ऊर्जा को लोकप्रिय बनाने के साथ–साथ 'उत्सर्जन में कमी, पुनः चक्रीकरण और पुनः प्रयोग' जैसे नारों को बड़े स्तर पर अपनाने की दिशा में दृढ़ रानीतिक इच्छा शक्ति दिखानी चाहिए।

निष्कर्ष यह है कि जलवायु एक प्रमुख दीर्घकालिक समस्या है जिसके अल्पकालिक समाधान की आवश्यकता है। इसलिए सभी हितधारकों को परादर्शी रूप में सभी तरह के विकास प्रकाश करके केवल तात्कालिक–अल्पकालिक अपनाने के साथ–साथ मध्य और दीर्घ अवधि के उपाय भी करने चाहिए। ❐

**(लेखक श्रम संसाधन विभाग, पटना में मुख्य सचिव हैं। ई–मेलः** sush84nr@yahoo.com**)**

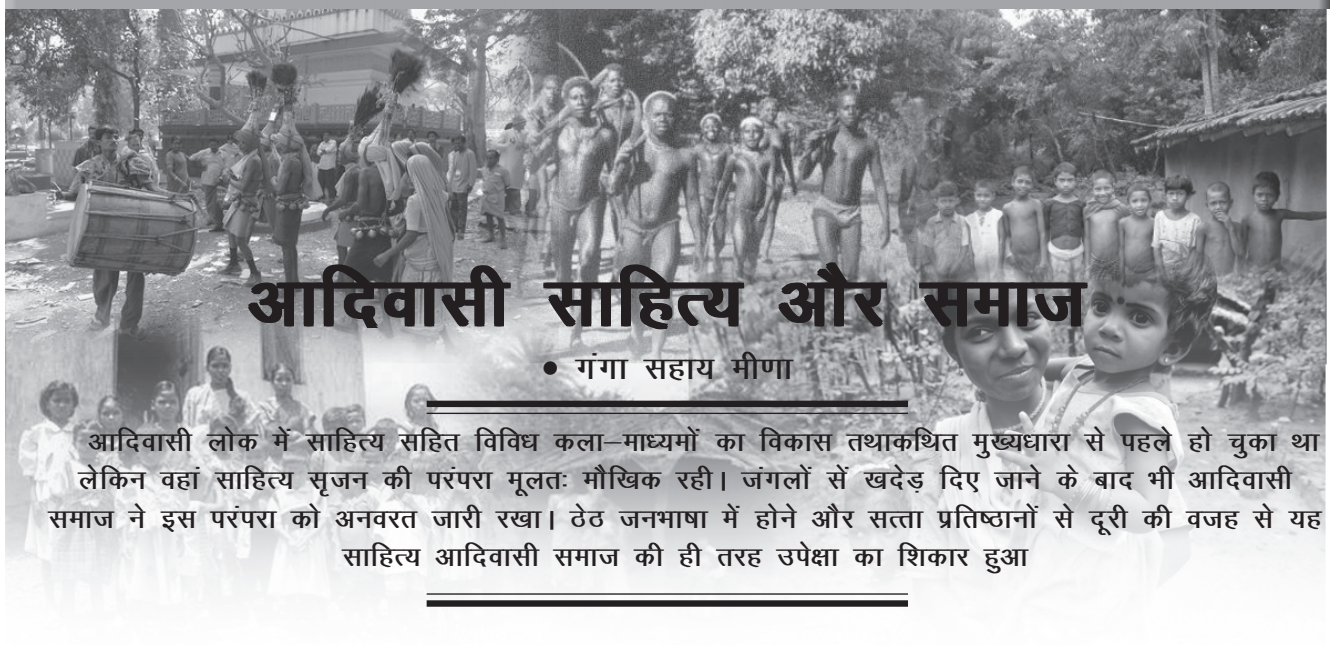

# आदिवासी साहित्य और समाज

• गंगा सहाय मीणा

**आदिवासी लोक में साहित्य सहित विविध कला–माध्यमों का विकास तथाकथित मुख्यधारा से पहले हो चुका था लेकिन वहां साहित्य सृजन की परंपरा मूलतः मौखिक रही। जंगलों सें खदेड़ दिए जाने के बाद भी आदिवासी समाज ने इस परंपरा को अनवरत जारी रखा। ठेठ जनभाषा में होने और सत्ता प्रतिष्ठानों से दूरी की वजह से यह साहित्य आदिवासी समाज की ही तरह उपेक्षा का शिकार हुआ**

आजादी के बाद से ही अंतिम व्यक्ति देश की योजनाओं में तो रहा लेकिन हक़ीक़त में वह लगातार हाशिए पर धकेला जाता रहा। भारतीय समाज, राजनीति और साहित्य में हाशिए पर धकेली गई उत्पीड़ित अस्मिताओं ने मुक्ति के लिए लगातार संघर्ष किया है। 20वीं सदी के आखिरी दशकों में भारत में नये सामाजिक आंदोलनों ने जन्म लिया। स्त्रियों, किसानों, दलितों, आदिवासियों और जनजातियों की एकजुटता ने ऐसी मांगें और मुद्दे उठाएं जो स्थापित सैद्धांतिक व राजनीतिक मुहावरों के माध्यम से आसानी से समझे और सुलझाये नहीं जा सकते थे। इन अस्मिताओं ने अपने साथ होने वाले शोषण के लिए अपनी खास अस्मिता को कारण बताया और उस शोषण तथा भेदभाव से संघर्ष के लिए उस संबंधित अस्मिता/पहचान को धारण करने वाले समूह/समुदाय को अपने साथ लेकर अपनी मुक्ति के लिए सामूहिक अभियान चलाया। चूंकि इस प्रक्रिया में शोषण और संघर्ष का आधार अस्मिताएं हैं, इसलिए इसे अस्मितावाद की संज्ञा दी गई। वंचितों के शोषण के ख़िलाफ़ उठ खड़ी हुई मुहिम में सामाजिक–राजनीतिक आंदोलन के अलावा साहित्यिक आंदोलन ने भी बढ़–चढ़ कर हिस्सा लिया है। स्त्रीवादी साहित्य और दलित साहित्य उसी का प्रतिफल है। अब आदिवासी चेतना से लैस आदिवासी साहित्य भी साहित्य और आलोचना की दुनिया में अपनी उपस्थिति दर्ज़ करा चुका है।

आदिवासी लोक में साहित्य सहित विविध कला माध्यमों का विकास तथाकथित मुख्यधारा से पहले हो चुका था लेकिन वहां साहित्य सृजन की परंपरा मूलतः मौखिक रही। जंगलों से खदेड़ दिए जाने के बाद भी आदिवासी समाज ने इस परंपरा को अनवरत जारी रखा। ठेठ जनभाषा में होने और सत्ता प्रतिष्ठानों से दूरी की वजह से यह साहित्य आदिवासी समाज की ही तरह उपेक्षा का शिकार हुआ। आज भी सैकड़ों देशज भाषाओं में आदिवासी साहित्य रचा जा रहा है, जिसमें से अधिकांश से हमारा संवाद शेष है।

समकालीन आदिवासी साहित्य आंदोलन के ऐतिहासिक–भौतिक कारण है। दो दशक पूर्व भारत की केंद्रिय सरकार द्वारा शुरू की गई आर्थिक उदारीकरण की नीति ने बाज़ारवाद का रास्ता खोला। मुक्त व्यापार और मुक्त बाज़ार के नाम पर मुनाफ़े और लूट का खेल आदिवासियों के जल, जंगल और ज़मीन से भी आगे जाकर उनके जीवन का दांव पर लगाकर खेला जा रहा है। आंकड़े गवाह है कि पिछले एक दशक में अकेले झारखंड राज्य से 10 लाख से अधिक आदिवासी विस्थापित हो चुके हैं। इनमें से अधिकांश लोग दिल्ली जैसे महानगरों में घरेलू नौकर या दिहाड़ी पर काम करते है। विडंबना यह है कि सरकार के अनुसार राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली में मूलतः कोई आदिवासी नहीं है इसलिए यहां की शिक्षण संस्थाओं और नौकरियों में आदिवासियों के लिए आरक्षण या कोई विशेष प्रावधान नहीं है। विकास के नाम पर अपने पैतृक क्षेत्रों से बेदखल किए गएं। ये लोग जाएं तो कहां जाएं। सरकार के पास इनके लिए पुनर्वास की कोई योजना नहीं है। अगर योजनाएं हैं भी तो उनको अमल में नहीं लाया जा सका है। बाज़ार और सत्ता के गठजोड़ ने आदिवासियों के सामने अस्तित्व की चुनौती खड़ी कर दी है। जो लोग आदिवासी इलाक़ों में बच गए, वे सरकार और उग्र वामपंथ की दोहरी हिंसा में फंसे हैं। अन्यत्र फंसे आदिवासियों की स्थिति बिना जड़ के पेड़ जैसी हो गई है। नदियों,पहाड़ों जंगलो, आदिवासी पड़ोस के बिना उनकी भाषा और संस्कृति, तथा उससे निर्मित होनेवाली पहचान ही कहीं खोती जा रही है। आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व का इतना गहरा संकट इससे पहले नहीं पैदा हुआ। जब सवाल अस्तित्व के हो तो उसका प्रतिरोध भी स्वाभाविक है। सामाजिक व राजनीतिक प्रतिरोध के अलावा कला और साहित्य द्वारा भी इसका प्रतिरोध किया गया और उसी से समकालीन आदिवासी साहित्य अस्तित्व में आया।

जब–जब दिकुओं ने आदिवासी जीवन में अनावश्यक हस्तक्षेप किया, आदिवासियों ने उसक प्रतिरोध किया हैं। पिछली दो सदियां आदिवासी विद्रोहों की गवाह रही है। इन विद्रोहों से रचनात्मक ऊर्जा भी निकली, लेकिन वह मौखिक ही अधिक रही। संचार माध्यमों के अभाव में वह राष्ट्रीय रूप नहीं धारण कर सकी। समकालीन आदिवासी लेखन की पृष्ठभूमि के रूप में आदिवासी समाज में हजारों साल पुरानी साहित्य की मौखिक परंपरा को रखा जा सकता है। पूर्वोत्तर भारत में लगभग डेढ़ सौ साल पहले और संथाली आदि उत्तर भारतीय आदिवासी भाषाओं में 1949–50 से आदिवासी कलम ने अपने स्वरों को शब्दों में ढालना शुरू कर दिया। आज़ादी के बाद आदिवासी स्वायत्तता के लिए जयपाल सिंह मुंडा के नेतृत्व में भारतीय राजनीति से साहित्य तक में आदिवासी चेतना की गूंज सुनाई दी। बाद के आदिवासी लेखन को उसी के विकास के रूप में देखा जा सकता है। समय–समय पर गैर–आदिवासी रचनाकारों ने भी आदिवासी जीवन और समाज को अभिव्यक्त किया। ज़ाहिर है कोई भी साहित्यिक आंदोलन किसी तिथि विशेष से अचानक शुरू नहीं हो जाता। उसके उद्भव और विकास में तमाम परिस्थितियां अपनी भूमिका निभाती हैं। आदिवासी साहित्य की लंबी मौखिक और लगभग एक सदी पुरानी लिखित परंपरा के विकास के रूप में आए समकालीन आदिवासी लेखन और विमर्श की शुरुआत हमें 1991 के बाद से माननी चाहिए। देश की नई आर्थिक नीतियों ने आदिवासी शोषण–उत्पीड़न की प्रक्रिया तेज़ की, इसलिए उसका प्रतिरोध भी मुखर हुआ। शोषण और उसके प्रतिरोध का स्वरूप राष्ट्रीय था, इसलिए प्रतिरोध से निकली रचनात्मक ऊर्जा का स्वरूप भी राष्ट्रीय था। निष्कर्षतः 1991 के बाद आर्थिक उदारीकरण की नीतियों से तेज़ हुई आदिवासी शोषण की प्रक्रिया के प्रतिरोधस्वरूप आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व की रक्षा के लिए राष्ट्रीय स्तर पर पैदा हुई रचनात्मक ऊर्जा आदिवासी साहित्य है। इसमें आदिवासी और गैर–आदिवासी रचनाकार बढ़–चढ़कर हिस्सा ले रहे हैं। इस साहित्य का भूगोल, समाज, भाषा, संदर्भ शेष साहित्य से उसी तरह पृथक है जैसे स्वयं आदिवासी समाज और यही पार्थक्य इसकी मुख्य विशेषता है। यह आदिवासी साहित्य की अवधारणा के निर्माण का दौर है। आदिवासी साहित्य अस्मिता की खोज, दिकुओं द्वारा किये गए और किये जा रहे शोषण के विभिन्न रूपों के उद्घाटन तथा आदिवासी अस्मिता व अस्तित्व के संकटों और उसके ख़िलाफ़ हो रहे प्रतिरोध का साहित्य है। यह उस परिवर्तनकामी चेतना का रचनात्मक हस्तक्षेप है जो देश के मूल निवासियों के वंशजों के प्रति किसी भी प्रकार के भेदभाव का पुरज़ोर विरोध करती है तथा उनके जल, जंगल, जमीन और जीवन को बचाने के हक़ में उनके आत्मनिर्णय के अधिकार के साथ खड़ी होती है। हालांकि यह समकालीन आदिवासी लेखन और विमर्श का आरंभिक दौर है लेकिन बावजूद इसके यह सुखद है कि इसमें अभी तक स्वानुभूति बनाम सहानुभूति जैसी छद्म बहसें केंद्र से दूर परिधि के इर्द–गिर्द ही घूम रही हैं। आखिर स्वानुभूति या अनुभूति की प्रामाणिकता को केंद्रीय महत्व मिले भी क्यों, निश्चय ही अनुभूति की प्रामाणिकता की जगह अभिव्यक्ति की प्रामाणिकता अधिक महत्वपूर्ण है और होनी भी चाहिए। यह सच है कि लंबे अनुभव, निकट संपर्क और संवेदनशीलता के बिना प्रामाणिक अभिव्यक्ति संभव नहीं है, खासकर आदिवासी संदर्भ में, लेकिन बावजूद इसके स्वानुभूति को एकमात्र आधार नहीं बनाया जा सकता।

चूंकि आदिवासी साहित्य विमर्श अभी निर्माण–प्रक्रिया में हैं, इसलिए अभी इसके मुद्दे भी आकार ले रहे हैं। आदिवासी कौन हैं से शुरू होकर आदिवासी समाज, इतिहास, संस्कृति, भाषा आदि पर पिछले एक दशक में कुछ बातें हुई हैं। हर साहित्यिक आंदोलन की शुरुआत और उसे आगे बढ़ाने में एक या अधिक पत्रिकाओं की भूमिका होती है। साहित्य जगत में आदिवासी मुद्दों को उठाने, उनसे जुड़े सृजनात्मक साहित्य को प्रोत्साहन देने में इन पत्रिकाओं ने अहम योगदान किया है– *युद्धरत आम आदमी* (दिल्ली, हजारीबाग,, संपादक–रमणिका गुप्ता), *अरावली उद्घोष* (उदयपुर, संस्थापक–संपादक– बी. पी. वर्मा पथिक), *झारखंडी भाषा साहित्य, संस्कृति अखड़ा* (रांची, संपादक– वंदना टेटे), *आदिवासी सत्ता* (दुर्ग, छत्तीसगढ़, संपादक–के आर. शाह) आदि। इनके अलावा *तरंग भारती* के माध्यम से पुष्पा टेटे, *देशज स्वर* के माध्यम से सुनील मिंज और *सांध्य दैनिक झारखंड न्यूज लाइन* के माध्यम से शिशिर टुडु आदिवासी विमर्श को बढ़ाने में लगे हैं। बड़ी संख्या में मुख्यधारा की पत्रिकाओं ने आदिवासी विशेषांक निकालकर आदिवासी विमर्श को आगे बढ़ाने में मदद की है, जैसे– *समकालीन जनमत* (2003), *दस्तक* (2004), *कथाक्रम* (2012), *इस्पातिका* (2012), आदि। शुरू में हिंदी की प्रमुख पत्रिकाओं ने आदिवासी मुद्दों को छापने में उतनी रुचि नहीं दिखाई लेकिन अब विमर्श की बढ़ती स्वीकारोक्ति के साथ ही इन पत्रिकाओं में आदिवासी जीवन को जगह मिलने लगी है। छोटी पत्रिकाओं में आदिवासी लेखकों को पर्याप्त जगह मिल रही है।

आदिवासी लेखन विविधताओं से भरा हुआ है। समृद्ध मौखिक साहित्य परंपरा का लाभ आदिवासी रचनाकारों को मिला है। आदिवासी साहित्य की उस तरह कोई केंद्रीय विधा नहीं है, जिस तरह स्त्री साहित्य और दलित साहित्य की आत्मकथात्मक लेखन है। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक–सभी प्रमुख विधाओं में आदिवासी और गैर–आदिवासी रचनाकारों ने आदिवासी जीवन एवं समाज की प्रस्तुति की है। आदिवासी रचनाकारों ने आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व के संघर्ष में कविता को अपना मुख्य हथियार बनाया है। आदिवासी लेखन में आत्मकथात्मक लेखन केंद्रीय स्थान नहीं बना सका क्योंकि स्वयं आदिवासी समाज आत्म से अधिक समूह में विश्वास करता है। अधिकांश आदिवासी समुदायों में काफी बाद तक भी निजी और निजता की धारणाएं घर नहीं कर पाई। परंपरा, संस्कृति, इतिहास से लेकर शोषण और उसका प्रतिरोध–सब कुछ सामूहिक है। आदिवासी साहित्य में आई आदिवासियों की समस्याओं को मोटे तौर पर दो भागों में बांटा जा सकता है– उपनिवेश काल में साम्राज्यवाद और सामंतवाद के गठजोड़ से पैदा हुई समस्याएं और दूसरे, आज़ादी के बाद देसी शासन की जनविरोधी नीतियों और उदारवाद के बाद की समस्याएं। आदिवासी कलम की धार तेज़ी से अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार कर रही है। आज़ादी से पहले आदिवासियों की मूल समस्याएं वनोपज पर प्रतिबंध, तरह–तरह

के लगान, महाजनी शोषण, पुलिस प्रशासन की ज्यादतियां आदि हैं जबकि आज़ादी के बाद भारतीय सरकार द्वारा अपनाए गए विकास के गलत मॉडल ने आदिवासियों से उनके जल, जंगल और ज़मीन छीनकर उन्हें बेदखल कर दिया। विस्थापन उनके जीवन की मुख्य समस्या बन गई। इस प्रक्रिया में एक ओर उनकी सांस्कृतिक पहचान उनसे छूट रही हैं, दूसरी ओर उनके अस्तित्व की रक्षा का प्रश्न खड़ा हो गया है। अगर वे पहचान बचाते हैं तो अस्तित्व पर संकट खड़ा होता है और अगर अस्तित्व बचाते हैं तो सांस्कृतिक पहचान नष्ट होती है, इसलिए आज का आदिवासी, विमर्श अस्तित्व और अस्मिता का विमर्श है। यह ऐसा विमर्श है जिससे इस समुदाय की परंपरा और संस्कृति के साथ उनके साथ हो रहे अन्याय, अपमान, शोषण आदि का भी बयान हो रहा है। विभिन्न धरातलों पर आदिवासी लेखन एक व्यापक विमर्श का हिस्सा बन रहा है।

आदिवासी विमर्श में आदिवासी भाषाओं को बचाने का सवाल बुनियादी चिंताओं में शामिल है। जिन तत्वों से आदिवासी अस्मिता परिभाषित और प्रभावित होती हैं। उसमें भाषा भी एक प्रमुख तत्व है। भाषा के सवाल पर आदिवासी विमर्श दलित विमर्श से पृथक राय रखता है। अधिकांश दलित चिंतकों को अपनी मातृभाषाओं से कोई लगाव नहीं है, जबकि वे अंग्रेज़ी को मुक्ति की भाषा मानते हैं। इसके ठोस कारण हैं– हिंदी आदि भाषाओं ने दलितों की मुक्ति में कोई मदद नहीं की, जबकि अंग्रेज़ी ने एक सीमित अर्थ में ही सही लेकिन दलितों को उनके पारंपरिक पेशों से मुक्ति दिलाई है। आदिवासियों को न हिंदी से लगाव है और न अंग्रेज़ी से। अपनी मातृभाषाओं को बचाए रखते हुए वे शेष भाषाओं से अपना व्यवहार तय करते हैं। आदिवासी साहित्य में आदिवासी भाषाओं को बचाने की चिंता देखी जा सकती है।

स्त्री और दलित साहित्य से भिन्न आदिवासी साहित्य की एक प्रमुख प्रवृत्ति इसमें अन्य उत्पीड़ित अस्मिताओं के प्रति सहयोगी भाव है। स्त्रीवादी साहित्य ने जाति के प्रश्न को नहीं समझा और दलित साहित्य ने स्त्री के सवालों को तरजीह नहीं दी, जिसके फलस्वरूप दलित स्त्री विमर्श अस्तित्व में आया। चूंकि आदिवासी समाज में श्रम में भागीदारी के कारण स्त्री अपेक्षाकृत बेहतर स्थिति में रही है, इसलिए साहित्य में भी बड़ी संख्या में स्त्री रचनाकारों ने अपनी उपस्थिति दर्ज़ कराई है। उनके तथा अन्य रचनाकारों के माध्यम से आदिवासी साहित्य में स्त्री के सवालों को पर्याप्त जगह मिल रही है। स्त्री के सवालों को केंद्रीय महत्व दिये बिना आदिवासी साहित्य की परिकल्पना भी संभव नहीं। आदिवासी साहित्य अपने दायरे में अन्य उत्पीड़ित अस्मिताओं के प्रति संवेदनशील है।

चूंकि आदिवासी साहित्य अपनी रचनात्मक ऊर्जा आदिवासी विद्रोहों की परंपरा से लेता है, इसलिए उन आंदोलनों की भाषा और भूगोल भी महत्वपूर्ण रहा है। हिंदी अधिकांश आदिवासियों की भाषा नहीं है। मुंडारी, संथाली, हो, भीलोरी, उड़िया, गारो आदि उनकी भाषाएं हैं। आदिवासी रचनाकारों का मूल साहित्य उनकी इन्हीं भाषाओं में है। हिंदी में मौजूद साहित्य देशज भाषाओं में उपस्थित साहित्य की इसी समृद्ध परंपरा से प्रभावित है। कुछ साहित्य का अनुवाद और रूपांतर भी हुआ है। भारत की तमाम आदिवासी भाषाओं में लिखा जा रहा साहित्य हिंदी, बांग्ला, तमिल जैसी बड़ी भाषाओं में अनूदित और रूपांतरित होकर एक राष्ट्रीय स्वरूप ग्रहण कर रहा है। प्रकांतर से पूरा आदिवासी साहित्य बिरसा, सिद्धो–कान्हों और तमाम क्रांतिकारी आदिवासियों और उनके आंदोलनों से विद्रोही चेतना का तेवर लेकर आगे बढ़ रहा है।

आदिवासी साहित्य की मूल विशेषता इसका पार्थक्य है, इसलिए इसके मूल्यांकन के लिए एक नये सौंदर्यशास्त्र की आवश्यकता होगी। आदिवासी साहित्य पाठक के अनुभव का विस्तार कर उसे उस भूगोल, समाज और इतिहास में ले जाता है, जिससे अधिकांश पाठक अपरिचित हैं। आदिवासी साहित्य में आई प्रकृति परंपरागत प्रकृति चित्रण से भिन्न है। यह आदिवासी जीवन और संस्कृति का मूलाधार है। आदिवासी साहित्य जीवन–जगत के प्रति एक अलग नज़रिया पेश करता है, इसलिए इसके मूल्यांकन में सतकर्ता बरतनी होगी और साथ ही साथ इसे साहित्य की नकारात्मक राजनीति से भी बचाना होगा। आदिवासी साहित्य एक अर्थ में किसी व्यक्ति या समुदाय के ख़िलाफ नहीं है, इसलिए यह साहित्य के बृहद उद्देश्य को साधता हुआ अपने कर्तव्य पथ पर आगे बढ़ रहा है। आदिवासी साहित्य के प्रति पत्रिकाओं, प्रकाशकों और सबसे ज्यादा पाठकों का बढ़ता रुझान आशान्वित करता है। आदिवासी साहित्य ही आदिवासी समाज से संवाद का एक सशक्त माध्यम बन सकता है। ❑

**(लेखक जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में सहायक प्राध्यापक हैं। हाल में ही लेखक की *'आदिवासी साहित्य विमर्श'* नामक पुस्तक प्रकाशित हुई है। लेखक को 'दलित आदिवासी लेखन पुरस्कार 2011' भी प्राप्त हुआ हैं।**

**ई मेलः** gsmeena.jnu@gmail.com)

**योजना**

**आगामी अंक**

**फरवरी 2014**

**जनस्वास्थ्य**

**मार्च 2014**

**प्रशासनिक सुधार**

IAS **IGNITED MINDS** PCS

**दर्शनशास्त्र, ETHICS एवं निबंध के प्रशिक्षण का प्रामाणिक एवं विश्वसनीय संस्थान**

**हम आपको आमंत्रित करते है एक ऐसे संस्थान की कार्यशाला में जिसे पिछले पाँच वर्षों के हिन्दी माध्यम के लगभग सभी टॉपर्स को पढ़ाने का गौरव प्राप्त है**

हमारा संस्थान महज पाँच वर्ष पुराना है अपनी विशिष्ट शैक्षणिक प्रविधि और उत्कृष्ट शिक्षण के कारण आज यह संस्थान दर्शनशास्त्र का पर्याय बन चुका है। पिछले पाँच वर्षों में दर्शनशास्त्र से सफल सभी हिन्दी माध्यम के सर्वोच्च अंक प्राप्त करने वाले विद्यार्थी भी हमारे संस्थान से सम्बद्ध रहे हैं जिनका विवरण निम्नवत् है

***IGNITED MINDS* एवं अमित कुमार सिंह क्यों?**

दिल्ली एवं इलाहाबाद में पढ़ाने वाले एकमात्र शिक्षक जिन्होंने पिछले चार वर्षों के हिन्दी माध्यम के सभी टॉपर्स को पढ़ाया है, जो निम्न हैं।

| | | | |
|---|---|---|---|
| वर्ष 2009 | – | कर्मवीर शर्मा | रैंक 28 |
| वर्ष 2010 | – | शिव सहाय अवस्थी | रैंक 34 |
| वर्ष 2011 | – | मिथिलेश मिश्रा | रैंक 46 |
| वर्ष 2012 | – | प्रियंका निरंजन | रैंक 20 |
| वर्ष 2012 | – | धर्मेन्द्र कुमार | रैंक 25 |

IAS परीक्षा में पिछले लगातार पाँच वर्षों से हिन्दी माध्यम में दर्शनशास्त्र में सर्वोच्च अंक प्राप्त करने वाले सभी विद्यार्थी अमित कुमार सिंह से प्रशिक्षित रहे हैं

| | | | |
|---|---|---|---|
| वर्ष 2008 | – | विशाल मलानी (IRS) | 378 अंक |
| वर्ष 2009 | – | कर्मवीर शर्मा (IAS) | 371 अंक |
| वर्ष 2010 | – | अमर बहादुर (IRS) | 377 अंक |
| वर्ष 2011 | – | सुजाता (IPS) | 362 अंक |
| वर्ष 2012 | – | गौरव भारील (IPS) | 315 अंक |

**विशेष नोट**

सामान्य अध्ययन के प्रश्न पत्र ने साबित कर दिया है कि इस प्रश्न पत्र की तैयारी में कोचिंग की भूमिका नगण्य होती जा रही है, या तो ऐसे प्रश्न पूछे जा रहे हैं जिनका उत्तर आप बिना कोचिंग किये दे सकते हैं या ऐसे प्रश्न आये हैं जिन्हें किसी भी कोचिंग ने नहीं पढ़ाया है। अतः सामान्य अध्ययन की तैयारी में कोचिंग का महत्व लगभग समाप्त हो गया है। मूलतः 500 अंकों के वैकल्पिक विषय की तैयारी ही प्रासंगिक प्रतीत होती है। 12 महीने के सामान्य अध्ययन की कोचिंग के बजाय तीन महीने के वैकल्पिक विषय की कोचिंग 500 अंक में से 300 अंक दिला सकती है।

**एकमात्र विषय (दर्शनशास्त्र) जो पिछले पाँच वर्षों के सभी टॉपर्स का विषय रहा है। एकमात्र शिक्षक (अमित कुमार सिंह) जिन्होंने दर्शनशास्त्र (हिन्दी माध्यम) के सभी टॉपर्स को पढ़ाया है।**

# दर्शनशास्त्र द्वारा अमित कुमार सिंह

# ETHICS G.S. Paper-IV

एक मात्र संस्थान जिसके शिक्षक को Ethics के पठन–पाठन का 20 वर्ष का अनुभव है, जिनका शोध (M. Phil, एवं Ph.D.) भी Ethics पर है और जिन्होनें दिल्ली विश्वविद्यालय में एथिक्स पढ़ाया भी है।

**Ethics पर कोई भी कोचिंग Join करने से पहले निम्न बिन्दुओं पर विचार करें**

1. 25-30 अंकों के विश्व इतिहास की 25 कक्षाएं और 250 अंकों के एथिक्स के लिए भी 20 कक्षाएं। क्या यह न्याय संगत है?
2. इतिहास, भूगोल की पढ़ाई जून-जुलाई में और 250 अंकों के नये जुड़े खंड की पढ़ाई अक्टूबर-नवम्बर में क्या यह उचित है?
3. यदि सामान्य अध्ययन पढ़ाने वाले तथा-कथित संस्थान एथिक्स की इतनी विशेषज्ञता रखते थे जैसा कि उनका दावा था तो जून-जुलाई से एथिक्स का प्रशिक्षण क्यों नहीं दिया?

हमारा संस्थान एकमात्र संस्थान है जिसने नया पाठ्यक्रम आने के 10 दिन में ही एथिक्स पर 8 कार्यशालाएं आयोजित की और जून माह से ही एथिक्स की कक्षाएं प्रारंभ की।

# समाज कार्य द्वारा एस. एस. राजपूत (इलाहाबाद)

अधिक जानकारी के लिए संस्थान से सम्पर्क करें

A -2, 1st Floor, Comm. Comp., Near Mukherjee Nagar, Delhi-09
PH. 9540131314, 011-27654704

H-1 , First Floor, Madho Kunj, Katra, Allahabad
Ph. 9389376518, 9793022444

YH-231/2013

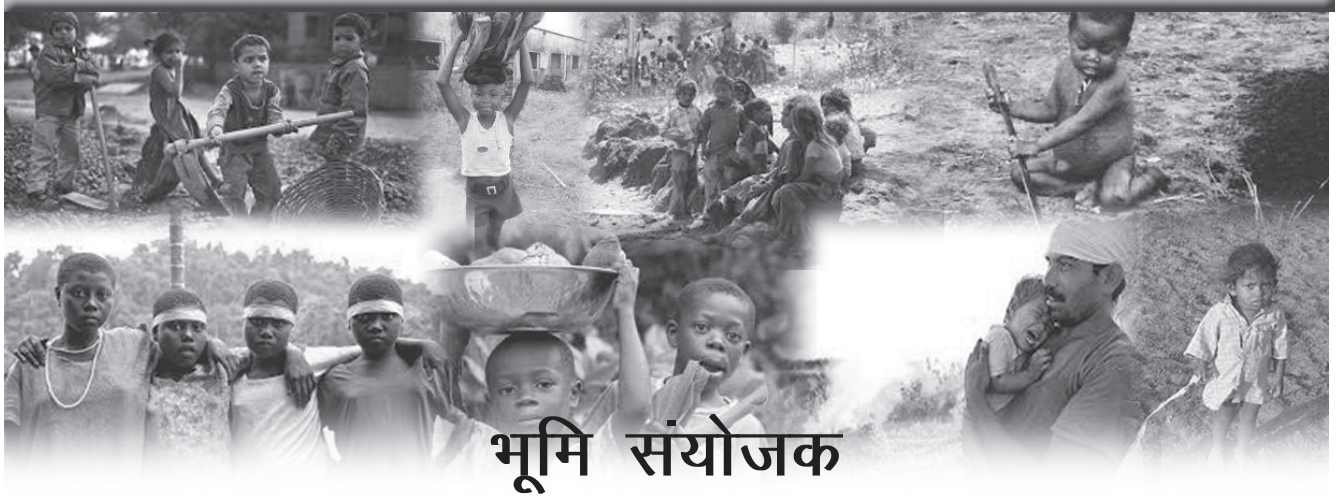

# भूमि संयोजक
# ग्रामीण भूमि प्रशासन में परिवर्तन का अग्रदूत

• संजॉय पटनायक

पूरी दुनिया में भूमि ठोस और वास्तविक संपत्ति मानी जाती है। परिवार ज़मीन को सबसे क़ीमती मानते हैं, इसे हृदय में बसा कर रखते हैं और पूजा करते हैं। ज़मीन एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को चली जाती है। भूमि से ही परिवारों का भरण–पोषण होता है और इससे लोगों का आत्मभाव भी विकसति होता है। लेकिन भारत में ग्रामीण गरीबी, ऋण बोझ तथा नाममात्र की ज़मीन के संदर्भ में बेदखली से जटिल सामाजिक–आर्थिक तथा राजनीतिक द्वंद्व पैदा हुए हैं। विश्व के किसी अन्य भाग की तरह भारत में ग्रामीण ग़रीबी की मुख्य वजह ज़मीन के नियंत्रण और उसके उपयोग से जुड़ी है।

स्वतंत्र भारत में भूमि संबंधी कानूनों का उद्देश्य शोषणकारी और अन्यायकारी भूमि राजस्व निर्धारण प्रणाली में सुधार करना रहा। इस प्रणाली के बीज औपनिवेशिक व्यवस्था में थे। कालक्रम में कृषि विकास नारा बन गया और इसे ग्रामीण गरीब की हालत सुधारने का मार्ग माना जाने लगा। काश्तकारों को मालिक़ाना हक देने के लिए राज्य ने यह महसूस किया कि बिचौलियों को खत्म किया जाए और काश्तकारों को अवधि संबंधी सुरक्षा मुहैया कराई जाए। 1947 के बाद केंद्र और राज्यों की सरकारों ने भूमि सुधार संबंधी कई कानून बनाए। इन कानूनों का मकसद भूमिहीन ग़रीबों और भू–संपन्न लोगों के बीच की खाई को पाटना था। इन कानूनों का जोर भूमि हदबंदी व्यवस्था लागू करना एवं उपलब्ध भूमि फिर से वितरण पर था और अंतिम लक्ष्य खेत जोतने वाले खेतिहर को भूमि देना था। इन कानूनों का मकसद कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए ज़मीन के समुचित उपयोग को बढ़ावा देना भी था।

ओडिशा सरकार ने इस संबंध में अपनी प्रतिबद्धता दिखाई और उसने भूमि के साथ भूमि की अवधि अधिकार तय करने का निश्चय व्यक्त किया। ओडिशा सरकार ने अनेक प्रगतिशील कानून बनाए। इनमें हदबंदी की सीमा तय करके विशेष रूप से अनुसूचित जाति और जनजाति परिवारों में जमीन का पुनर्वितरण शामिल था। सरकार ने ऐसे वैधानिक उपाय भी किए ताकि जनजातीय भूमि को गैर–जनजातीयों को हस्तांतरित नहीं की जा सके। लेकिन इन कानूनों को अमल में लाने में आई कई अड़चनों के कारण कम सफलता मिली। इससे बिना स्पष्ट मालिक़ाना अधिकार के भूमि स्वामित्व के अनेक मामले उभर कर सामने आए। बार–बार ग्रामीणों को स्वामित्व के बिना सरकारी ज़मीन लेने की समस्याएं खड़ी हुई और ऐसे मामले भी आए जहां ज़मीन पर कब्जा के बगैर सरकार ने स्वामित्व दे रखे थे।

ओडिशा के राजस्व विभाग ने 2005–06 में भूमिहीनों की गणना के आधार पर घर सहित ज़मीन आवंटन कार्यक्रम शुरू किया। इस कार्यक्रम का नाम पड़ा–वसुंधरा। प्रारंभिक गणना में यह स्पष्ट हुआ कि लगभग दो–ढाई लाख परिवारों को घर सहित चार डेसिमल (बाद में वसुंधरा कार्यक्रम के तहत 2008 में इसे 10 डेसिमल कर दिया गया) ज़मीन दी गई थी। लेकिन 2008–09 तक यह देखा गया कि कार्यक्रम को लागू करने में काफी चुनौतियां हैं और इससे समस्या का समाधान नहीं हो रहा।

2009–10 में तत्कालीन ग्रामीण विकास संस्थान–लैंडेसा ने अपने परियोजना क्षेत्र के गांवों में वसुंधरा योजना के क्रियान्वयन की स्थिति की समीक्षा की। समीक्षा में पाया गया कि वसुंधरा को सीमित क्षेत्र में ही सफलतापूर्वक लागू किया गया है। समीक्षा में यह पाया गया कि इस सीमित सफलता का कारण फील्ड स्तर पर राजस्व कर्मियों की कमी थी। समीक्षा में दूसरी कमी यह पाई गई कि राज्य के पास इस योजना को लागू करने के लिए ऐसा दिशानिर्देश नहीं था जो बेघर बेज़मीन ग्रामीण परिवारों की पहचान कर सके या कोई समाधान निकाल सके।

लैंडेसा ने क्षमता की समस्या को हल करने के लिए एक पायलट मॉडल तैयार किया। इसमें ऐसे प्रशिक्षित स्थानीय युवकों को काम में लगाया गया जो फील्ड स्तर के राजस्व अधिकारियों को अतिरिक्त क्षमता

प्रदान कर सकें। इन स्थानीय युवकों को कम्युनिटी रिसोर्स पर्सन (सीआरपी) या भूमि संयोजक कहा गया। इनका चुनाव समुदाय ने किया और इन्हें लैंडेसा ने राजस्व निरीक्षकों को अतिरक्त क्षमता प्रदान करने के लिए प्रशिक्षित किया। भूमि संयोजकों के जरिये अतिरिक्त क्षमता प्रदान करने का विचार इस तथ्य से उभरा था कि फील्ड स्तर के राजस्व अधिकारी भूमिहीनों की सही गणना करने के लिए सर्वे नहीं कर सकते। भूमिहीनों की संख्या तय रकने के लिए अतिरिक्त क्षमता की आवश्यकता थी।

इस पायलट मॉडल का उद्देश्य स्थानीय प्रशिक्षित युवाओं को रोज़गार देकर राजस्व विभाग की क्षमता को बढ़ाना था। पायलट मॉडल तैयार करने में लैंडेसा ने समय–सीमा परिभाषित भूमिका, भूमि संयोजकों तथा राजस्व अधिकारियों (विशेषकर राजस्व निरीक्षक जिनके साथ भूमि संयोजक काम करते हैं) की जिम्मेदारी सहित चरणबद्ध आवंटन योजना विकसित करने के लिए राजस्व अधिकारियों से विचार–विमर्श किया।

भूमि संयोजकों को निम्न मुख्य कार्य दिए गए – विभिन्न स्रोतों से सूचना एकत्रित करना, स्वामित्व रिकार्ड वाले परिवारों की सूची का मिलान कर भूमिहीनों की पहचान करना, फील्ड स्तरीय जांच में राजस्व निरीक्षकों को सहयोग देना तथा आवश्यक कागजात भरना। भूमि संयोजकों को यह सुनिश्चित करना था कि राजस्व विभाग द्वारा आयोजित शिविरों में प्रत्येक बेघर, भूमिहीन परिवार शामिल हों। भूमि संयोजकों ने जागरुकता पैदा करके समुदाय और राजस्व निरीक्षकों के बीच की खाई को पाटा तथा वसुंधरा जैसी योजनाओं सहित राजस्व विभाग की नई योजनाओं पर कार्रवाई में सहयोग किया।

### सीआरपी मॉडल को ऊपर उठाना

सीआरपी मॉडल यह स्थापित करने में सफल रहा कि फील्ड स्तर के राजस्व अधिकारियों को प्रशिक्षित ग्रामीण युवक अतिरक्ति क्षमता प्रदान कर सकते हैं। लैंडेसा ने यह निष्कर्ष निकाला कि ओडिशा जनजातीय अधिकारिता तथा जीविका कार्यक्रम (ओटीइएलपी) ज़मीन आवंटन की पुरानी समस्या को हल कर सकता है। इस समस्या की पहचान वसुंधरा योजन की समीक्षा में की गई थी।

ओटीइएलपी तथा लैंडेसा भूमि आवंटन कार्यक्रम लागू करने पर सहमत हुए। यह सहमति बनी कि ओटीइएलपी भूमि संयोजकों को काम पर रखेगा और लैंडेसा इन संयोजकों को प्रशिक्षण देगा ताकि ओडिशा के सात जिलों की 1,056 ग्राम परियोजनाओं में भूमिहीनों के लिए ज़मीन सुनिश्चित की जा सके। काफी कम समय में 98 प्रतिशत ग्राम परियोजनाओं में भूमि संयोजकों ने 30,000 भूमिहीन परिवारों की पहचान की। ग्राम परियोजनाओं में लगभग 160,000 पट्टे दिए जा चुके हैं। सीआरपी मॉडल की सफलता के आधार पर ओडिशा सरकार ने राज्य के 12 जिलों के 118 जनजातीय उपयोजना (टीएसपी) ब्लॉक के 1,800 गांवों तक भूमि आवंटन कार्यक्रम का विस्तार किया है। आशा है कि भूमि आवंटन कार्यक्रम इन ब्लॉकों के 1.2 मिलियन परिवारों में से पांच परिवारों को लाभ पहुंचाएगा। ओडिशा सरकार का अनुसूचित जनजाति तथा अनुसूचित जाति विकास विभाग इस कार्यक्रम को लागू करने का नोडल विभाग होगा। ओटीइएलपी तथा लैंडेसा राजस्व विभाग तथा संबद्ध जिला प्रशासन को समर्थन देते रहेंगे ताकि भूमिहीनों के लिए ज़मीन सुनिश्चित की जा सके। समन्वित जनजातीय विकास एजेंसी जिला स्तर पर सहयोग देगी जबकि ब्लॉक स्तर पर स्वयंसेवी संगठन सहयोग देंगे।

### लोक भागीदारी से गवर्नेंस सुधार

भू–प्रशासन और भूमिहीनता की सीमा तय करने की मुख्य जिम्मेदारी राज्य सरकार की है। यह कार्यक्रम एक उदाहरण है जिसमें परंपरागत जानकारी के साथ स्थानीय समुदाय से चुने गए भूमि संयोजक सक्रिय समर्थन से समुदाय को शामिल कर भूमिहीनता की सरकारी परिभाषा के आधार पर भूमिहीनों की सूची तैयार करते हैं। बाद में राजस्व विभाग के अधिकारी इसको प्रामाणिक करते हैं। इस तरह भूमि आवंटन समुदाय प्रेरित प्रक्रिया हो गई है।

स्थानीय लोगों का काम केवल भूमिहीनों की गणना तक सामित नहीं था। फील्ड स्तरीय जांच में चिह्नित भूमिहीन परिवारों को अपनी भूमि की पहचान करने तथा चौहदी तय करने के काम में शामिल किया गया ताकि भविष्य में ज़मीन के दायरे तथा कब्ज़ा से संबंधित कोई विवाद न हो। पहले गांव के लोागों को इस बात की बेहद कम जानकारी थी कि भूमिहीन कौन हैं और किसने ज़मीन हासिल कर ली है। भूमि आवंटन प्रक्रिया में भूमि संयोजकों द्वारा गरीब तथा भूमिहीन लोगों को शामिल करने में भू आवंटन की प्रक्रिया समुदाय प्रेरित बन गई। ओडिशा में सीआरपी कार्यक्रम को मज़बूत टीम बनाने तथा भूमि आवंटन तथा समाधान की जटिल समस्या को सरकार के साथ–साथ लोगों को शामिल कर हल करने का श्रेय जाता है।

यह चुनौतीपूर्ण कार्य में सरकार द्वारा सिविल सोसायटी का सहयोग लेने का दुर्लभ उदाहरण है। सीआरपी मॉडल सामूहिक नियोजन और देखरेख की प्रक्रिया के जरिये सफल परिणाम देकर अच्छे व्यवहार के रूप में उभरा है। यहां लोगों की स्वयं सहायता का परिणाम समुदाय के प्रति लाभांश के रूप में मिला है। सामान्यतः लोक भागीदारी की प्रक्रिया एक ऐसी विकास प्रणाली मानी जाती है जहां समुदाय सरकारी व्यवस्था को अपना समर्थन देता है। लेकिन सीआरपी मॉडल प्रक्रिया में समुदाय को समाहित कर लेता है, समुदाय भूमिहीनता की सीमा की पहचान करके नीति–निर्धारण भूमिका की ओर बढ़ता है। सरकार आगे इस प्रक्रिया को वैधता देती है। इससे लोक भागीदारी के साथ विकास की परिभाषा को नया रूप मिलता है। भूमि आवंटन कार्यक्रम का एक प्रमुख पक्ष लोगों की आवश्यकताओं को पूरा करने के काम में सरकार को समर्थन देने की समुदाय की अप्रत्याशित और अबाधित क्षमता में विश्वास करना है। इस विश्वास से यह विरोधाभासी और गलत धारणा टूटी कि सरकार और स्थानीय समुदाय काम नहीं कर सकते हैं या एक साथ काम नहीं कर सकते।

विकास की प्रक्रिया जैसे–जैसे आगे बढ़ती है सरकारी संस्थानों को जटिल विकास की चुनौतियों से निपटने के लिए बढ़ी क्षमता की ज़रूरत होती है। भूमिहीनों को ज़मीन देना जटिल और कठिन राज्य जनादेश है। इसे हासिल करना तभी संभव है जब पारस्परिक सहयोग की साझेदाररी कायम हो। सीआरपी मॉडल ऐसा ही एक साझेदारी मंच है जहां परंपरागत जानकारी वाले स्थानीय समुदाय को सरकार की भूमिहीन गणना में अहम भूमिका निभाने के लिए माना जाता है। इस तरह भूमि गवर्नेंस में स्थानीय भागीदारी सुनिश्चित होती है।

सीआरपी (भूमि संजोजक) मॉडल जमीन के मालिक़ाना हक़ संबंधी बुनियादी सूचनाओं तक पहुंच बढ़ाने के लिए ज्ञान के विकेंद्रीकरण का श्रेष्ठ उदाहरण है। ज्ञान के इस विकेंद्रीकरण की प्रक्रिया सीआरपी के साथ शुरू होती है जो गांव के राजस्व रिकार्ड को समुदाय तक लाता है। यह प्रक्रिया सीआरपी के साथ शुरू होती है जो गांव के राजस्व रिकार्ड को समुदाय तक लाता है तथा समुदाय के सदस्यों को भूमि रिकार्ड के इस्तेमाल के बारे में शिक्षित करता है। समुदाय स्तर पर रिकार्ड रखने के चलन से सूचना तक समुदाय के सदस्यों की पहुंच बढ़ती है और इससे गांव में भूमिधारक स्थिति को लेकर पारदर्शिता कायम होती है। इससे पहले गांव का राजस्व रिकार्ड राजस्व निरीक्षक के पास होता था। अनुसूचित क्षेत्रों में बहुत कम लोग गांव के राजस्व रिकार्ड और उसकी उपयोगिता के बारे में जानते थे। अब समुदाय और राजस्व निरीक्षक के साथ सीआरपी के काम करने से लोग आसानी से राजस्व रिकार्ड खासकर गांव के राजस्व रिकार्ड देख लेते हैं।

उत्तराधिकारियों को जमीन का हिस्सा निर्धारित करने में मदद के लिए सीआरपी परिवार के सदस्यों तथा राजस्व निरीक्षक की मौजूदगी में वंशावली तैयार करता है जिसमें पैतृक ज़मीन के परिवार के हिस्से को दिखाया जाता है। संयुक्त परिवार में पिता को परिवार का मुखिया माना जाता है और इस नाते वह ज़मीन पाने के योग्य होता है। राजस्व निरीक्षक सामान्यतः परिवार की जमीन में परिवार के अन्य सदस्यों के हिस्से को तय करने में अनदेखी करते हैं। लेकिन राजस्व निरीक्षक के साथ काम करने के कारण दो डेसिमल (2/100 एकड़) से कम का उत्तराधिकारी को भी बेघर–भूमिहीन माना जा सकता है। परिवार की ज़मीन का वास्तविक हिस्सा जानने के लिए वंशावली तैयार करने की पारदर्शी प्रक्रिया का इस्तेमाल कर सीआरपी उत्तराधिकारी के बीच भविष्य में होनेवाले संभावित विवाद को टालने में मदद करते हैं। इस तरह के विवाद विशेषकर व्यक्तिगत ज़मीन हिस्सेदारी के बारे में अज्ञानता के कारण खड़ा होते हैं।

सीआरपी गांव की बैठक में अंतिम रूप से तैयार भूमिहीन परिवारों की सूची को साझा करता है। इस बैठक में खूले तौर पर नामों को पुकारने से ग्रामीणों को यह जानकारी मिलती है कि कौन परिवार बेघर–भूमिहीन है और क्या मानक अपनाया गया है।

राजस्व अधिकारियों द्वारा फील्ड जांच के दौरान भूमिहीन चिह्नित किए गए परिवारों को सरकारी जमीन की पहचान करने और इसकी चौहद्दी तय करने में सक्रिय भागीदारी का मौका दिया जाता है। इससे रकबे और कब्जा को लेकर भविष्य में होने वाले विवाद को टालने में मदद मिलती है। पहले भूमिहीनों को ज़मीन देने की पूरी प्रक्रिया राजस्व विभाग और राजस्व निरीक्षक के कार्यालय तक सीमित रहती थी। समुदाय की कोई भूमिका नहीं थी। गांव के लोग विरले ही जान पाते थे कि कौन भूमिहीन है, किसे ज़मीन मिली है और कौन–सी ज़मीन मिली है। लेकिन सीआरपी (भूमि संयोजक) के सहयोग से राजस्व निरीक्षकों ने प्रत्येक गांव में फील्ड जांच की है। पहले ऐसा नहीं होता था। राजस्व निरीक्षक के पास समय कम होता था और उसके समय की मांग अधिक।

## भूमि अधिकार की महत्ता महसूस करने में लोगों की मदद

भूमिहीनों की पहचान करना ऐसा काम है जिसमें ज़मीन से जुड़े सभी मुद्दे लोगों की जानकारी में आ जाते है। सीआरपी मॉडल बनाने के पीछे यह बात है कि लोगों के मित्र की तरह लगने वाला व्यक्ति तैयार करना है जो जमीन से जुड़े मामलों को सुलझाने में सरकार और समुदाय के बीच सामाजिक मध्यस्थता की पहल करें। पायलट परियोजना और ओटीइएलपी बढ़ाने के दौरान सीआरपी को लोगो की मदद में पाया गया और विशेषकर भूमिहीनों को इस बात का अहसास कराने में देखा गया कि घर सहित ज़मीन पाना उनका अधिकार है।

सीआरपी ने राजस्व निरीक्षक को उन परिवारों (हमेशा भूमिहीन नहीं) को खोज निकालने में मदद कि जिन्होंने राजस्व रिकार्ड दिखाकर और निरीक्षकों को फील्ड जांच में शामिल कर सरकारी ज़मीन का अतिक्रमण कर रखा है। इस तरह के अवैध कब्जे को जनता के सामने लाकर सीआरपी ने राजस्व निरीक्षक को पूरा सहयोग दिया। इससे सीआरपी को स्वयं में विश्वास और गांव के लोगो का विश्वास हासिल करने में मदद मिली।

पहले पूरा समुदाय के राजस्व प्रक्रिया में शामिल नहीं रहने से अवैध कब्जे की बातें अनदेखी रह जाती थी और न ही राजस्व निरीक्षक अपने स्तर पर कब्जा हटाने को प्रेरित होता था। गांव के समर्थन से धन–बल और प्रभाव से सरकारी ज़मीन पर कब्जा करने का मामला गांव का मुद्दा बन गया। सरकारी ज़मीन के कब्जे को नियमित करने का काम में गांव के साक्षर युवाओं को शामिल करना भूमि आवंटन का एक नया मॉडल था क्योंकि इसका आधार गणना में निजी व्यक्ति (गैर–सरकारी) की क्षमता थी।

## सार्वजनिक–निजी साझेदारी मॉडल

सरकारी ज़मीन के कब्जे को नियमित करने के काम में गांव के साक्षर युवाओं को शामिल करना भूमि आवंटन का एक नया मॉडल था जिसकी निर्भरता भूमिहीनों की गणना करनेवाले निजी व्यक्तियों (गैर–सरकारी) की क्षमता पर थी। पहले इस तरह के राजस्व मामलों में सिविल सोसायटी और निजी लोगो की कोई प्रत्यक्ष भूमिका नहीं होती थी। यह समझा जाता था कि भूमि आवंटन या समाधान ऐसा क्षेत्र है जिसमें लोगों की भागीदारी संभव नहीं। देश में पहली बार सरकारी और गैर–सरकारी लोगों द्वारा ऐसे क्षेत्र में साझेदारी की गई जिसे केवल सरकारी काम माना जाता था। भूमि आवंटन में गैर–राजस्व के लोगों के जुड़ाव को समझकर राज्य सरकार ने माना कि सरकार के काम में समर्थन देने की क्षमता समुदाय में है। यह भी स्वीकार किया गया कि अब तक जिन लोगों तक नहीं पहुंचा गया था उन तक पहुंचने में स्थानीय युवाओं की समाजिक मध्यस्थता क्षमता काफी था।

रिकार्ड समय में परिणाम देकर सीआरपी ने लोगों और सरकार के बीच फिर से संपर्क कायम किया । भूमि आवंटन कार्यक्रम लागू करने में एक विचित्र अनुभव होता है। इसमें एक ऐसा काम करने योग्य सफल मॉडल दिखताहै जिसमें भूमि आवंटन जैसे जटिल मामले में सरकार साझेदारी करती है और सिविल सोसायटी साझे रूप में हर व्यक्ति के लिए अलग भूमिका और जिम्मेदारी तय करती है।

## निष्कर्ष

### अधिकारिता एवं प्रक्रिया के अन्य लाभ

सीआरपी कार्यक्रम कार्य का विकेंद्रीकरण कर भूमि प्रशासन के इर्द–गिर्द की जटिलताओं और तकनीकी कठिनाइयों को किसी तरह के पर्दे में नहीं रहने देना, सब कुछ उजागर कर देता है। यह प्रक्रिया को जनता के लिए प्रक्रिया को जनता के लिए दोस्ताना बना देता है। भूमि आवंटन प्रक्रिया में तेज़ी के लिए सीआरपी के इस्तेमाल से राजस्व अधिकारी इस बात के लिए प्रेरित होते हैं कि भूमि आवंटन प्राथमिकता के तौर पर किया जाना चाहिए। पहले ये अधिकारी कार्यबल की कमी के कारण इस काम को नहीं कर पाते थे। कई राजस्व निरीक्षकों ने कहा कि उनके द्वारा भूमिहीनों की पहचान का कोई मान्य तरीक़ा नहीं अपनाए जाने से वे गलत संख्या पेश करते थे। लेकिन उनका यह भी कहना है कि पुरानी व्यवस्था में उनके पास कोई और विकल्प नहीं था। कुछ राजस्व निरीक्षकों ने यह भी कहा कि उनके पास अतिरिक्त समर्थन नहीं होने के कारण भूमि आवंटित करने से पहले वे विरले ही फील्ड जांच करते थे।

समुदाय स्तर पर डाटा तैयार करने और उसे समय–समय पर लोगों से साझा करने की वजह से भूमि आवंटन मामले में समुदाय का जुड़ाव हुआ। भूमि रिकार्ड तक पहुंच बढ़ने से सर्किल कार्यालय में बड़ी संख्या में लोग जाने लगे। काफी हद तक सीआरपी कार्यक्रम ने लोगों को अधिकारिता प्रदान की और समुदाय के सदस्यों को इस काम में शामिल होने के लिए प्रेरित किया। समुदाय और राजस्व निरीक्षकों के साथ घनिष्ठ संबंध होने से सीआरपी को वैसे भूमि विवाद सुलझाने में भी मदद मिली जो उनके दायरे में नहीं थे।

सीआरपी कार्यक्रम में भूमि आवंटन में महिलाओं की भागीदारी बढ़ी क्योंकि ज़मीन पति–पत्नी दोनों के नाम से किए जाने लगे। नवंबर 2013 तक एकत्रित पट्टा वितरण आंकड़े बताते हैं कि घर के लिए ज़मीन और कृषि के लिए ज़मीन के 94 प्रतिशत पट्टे पति–पत्नी के नाम से थे और 2.5 प्रतिशत महिला नेतृत्व वाले घरों के थे। पट्टा प्राप्त करने वाली अनेक महिलाओं ने बताया कि इससे पहले उन्होंने पट्टा देखा नहीं था और साझे नाम में ज़मीन के बारे में सुना नहीं था। भूमि आबंटन के बाद महिलाओं ने कार्यक्रम में बढ़ चढ़ दिलचस्पी ली। सरकारी योजनाओं का लाभ उठाते हुए घर के लिए प्लाट का इस्तेमाल किया। कई ऐसे उदाहरण है। जहां मलि पट्टाधारियों ने सरकारी सेवाओं का लाभ उठाने के लिए यूजर ग्रुप का गठन किया। महिला नेतृत्व वाले परिवारों में पट्टा बहुत काम आया। इससे इन परिवारों के बच्चों के शिक्षण संस्थानों में दाखिले के लिए एक तरह का आवास प्रमाण–पत्र मिल गया। स्कूलों में दाखिले के समय ऐसे दस्तावेज़ों की आवश्यकता पड़ती है। ❑

**(लेखक लैंडेसा, ओडिशा के राज्य निदेशक हैं। ई मेल** : sanjoyp@landesa.org)

YH-234/2013

# विकास की अवधारणा और जनजातियों का स्वास्थ्य

• नूतन मौर्या

विश्व बैंक के मुताबिक बेहतर सेहत केवल बीमारी और कुपोषण से मुक्ति का नाम नहीं है। इसमें शारीरिक, मानसिक और सामाजिक उन्नति भी शामिल है। यही वजह है कि मानव विकास की अवधारणा में इन सभी तत्वों को शामिल किया गया। भारतीय संदर्भ में जनजाति समाज के सेहत की विवेचना को भी हमें विकास की अवधारणा से जोड़कर देखना होगा। मुख्यधारा के आर्थिक विकास का संबंध प्राकृतिक संसाधनों के दोहन से जुड़ा है। ज्यादातर खनिज संसाधनों के केंद्र में जंगल है जो सदियों से जनजाति समाज का पर्यावास रहा है। इसलिए खनिज संसाधनों की जरूरत ने पर्यावास की पुरातन व्यवस्था को बदलना शुरू किया है। इसलिए मौजूदा विकास के दौर में जनजाति समाज का जीवनचक्र बड़े संक्रमण से गुज़र रहा है। जनसंख्या और सामाजिक संरचना के साथ शिक्षा, गरीबी और सेहत के सूचकांक से साफ है कि अनुसूचित जनजाति के लिए बेहतर स्वास्थ्य बनाए रखना बड़ी चुनौती है। इन समुदायों में संक्रामक और गैरसंक्रामक दोनों तरह की बीमारियां पाई जाती हैं। संक्रामक बीमारियों में तपेदिक (टीबी), मलेरिया, डेंगू, चिकनगुनिया, लिंफेटिक फिलारेसिस और डायरिया का प्रकोप ज्यादा है। जनजाति समाज में मौजूद गैर संक्रामक बीमारियो में खासतौर पर कैंसर, हाइपरटेंशन, पीढ़ियों से मौजूद जेनेटिक डिसऑर्डर और कुपोषण जनित बीमारियां मौजूद हैं। बाल और शिशु मुत्युदर, रक्ताल्पता (एनीमिया) अभी भी जनजाति समाज के लिए बड़ा अभिशाप साबित हो रहा है।

अनुसूचित जनजातियों के स्वास्थ्य के ऊपर शोध और अध्ययन बहुत सीमित हैं। फिलहाल भारतीय चिकित्सा एवं शोध परिषद (आईसीएमआर) ने अलग से अनुसूचित जातियों के स्वास्थ्य पर पूरे देश में ट्राइबल हेल्थ रिसर्च फोरम ;(टीएचआरएफ) की नींव डाली है। इसके अलावा राष्ट्रीय परिवार एवं स्वास्थ्य सर्वे–3 के अध्ययन से जनजाति समुदाय के स्वास्थ्य से जुड़े तथ्यों की जानकारी मिलती है। मानवशास्त्रियों और गैर सरकारी संगठनों ने भी विस्तार से जनजाति समूहों के स्वास्थ्य और संस्कृति से जुड़े मुद्दों पर अध्ययन किया है लेकिन यह टुकड़ों में और अलग–अलग कालखंडों में किया गया है। तमाम सीमाओं के बावजूद इन अध्ययनों से अनुसूचित जनजाति के स्वास्थ्य की हालत को समझने के लिए भरपूर तथ्य और विश्लेषण मिलते हैं।

## अनुसूचित जनजाति की संख्या और सामाजिक संरचना

स्वास्थ्य के जिस विस्तारवादी नजरिये से हम अनुसूचित जनजाति का जायजा ले रहे हैं उसके लिए जरूरी है कि पहले जनसंख्या विभाजन और सामाजिक तंत्र पर संक्षिप्त नज़र डाली जाए। जनजाति आबादी के मामले में अफ्रीका के बाद भारत दूसरा सबसे बड़ा देश है। देश की कुल आबादी में जनजाति आबादी का हिस्सा 8.2 फीसदी है ( जनसंख्या आयोग 2011)। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 342 के मुताबिक देश में करीब 697 जनजाति समूह निवास करते हैं। जिसमें 75 ऐसी जनजातियां है जिन्हें आदिम जनजाति समूह (प्रीमिटिव ट्राइबल ग्रुप–पीजीटी) कहा गया है। आदिम समूह का दर्जा अबूझमडिया, बोड़ो, बोंदो, बिरहोर, बैगा, कमार, सहरिया और ओंग जनजातियों को मिला है। भील, संथाल, और गौंड जैसी अनुसूचित जनजातियों की संख्या औरों से ज्यादा है। इनका पर्यावास मध्य और पश्चिम भारत में हैं। अकेले छत्तीसगढ़ में 32 फीसदी जनजातिय आबादी बसती है। जबकि संथाल जनजाति की आबादी बिहार, झारखंड, ओड़ीसा और पश्चिम बंगाल में हैं। हालांकि जनसंख्या के लिहाज से आबादी का ज्यादा हिस्सा पूर्वोत्तर राज्यो में केंद्रित हैं, अकेले मिजोरम में 94 फीसदी अनुसूचित जनजातियों की आबादी है। उत्तर–पूर्व की जनजातियों में खासतौर पर मीजों, गारो, नगा, खासी, चकमा जैसी जनजातियां मौजूद हैं। सबसे कम जनजातियां दक्षिण भारत में रहती है। दक्षिण भारत में बसने वाली जनजातियों में चेंचू, डबला, गडाबास, ओंध, टोडा और कोलम शामिल हैं। अंडमान और निकोबार की आबादी का 8 फीसदी हिस्सा अनुसूचित जनजाति में आता है। यहां जरवा और ओंग जैसी जनजातियां पाई जाती है।

किसी समाज के स्वास्थ्य और सामाजिक संरचना का सबसे बड़ा पैमाना स्त्री–पुरुष अनुपात होता है। इस मामले में अनुसूचित जनजाति बाकी समाज के मुकाबले ज्यादा प्रगतिशील हैं। जनसंख्या (2011) के नये आंकड़ें बताते हैं कि देश में एक हज़ार पुरुषों पर 940 महिलाएं हैं जबकि अनुसूचित जनजाति में यह अनुपात 990 है। पुराने जनसंख्या के आंकड़ें भी बताते हैं कि लिंगानुपात में अनुसूचित जनजाति का रिकार्ड तुलनात्मक रूप से बेहतर रहा है। (देखें तालिकाः 1)। इसकी सबसे बड़ी वजह है कि सांस्कृतिक और सामाजिक मान्यताओं में अनुसूचित जाति के भीतर पुरुषों के मुकाबले महिलाओं को बराबरी भले न कहा जाय लेकिन बाकी समाज के मुकाबले ज्यादा अधिकार है। हालांकि इन समुदायों के भीतर लिंगानुपात एक समान नहीं हैं। सिक्किम के शेरपा समुदाय में जहां 1000 पुरुष पर 744 महिलाएं हैं। वहीं उड़ीसा के दूध खडियासा जनजाति में लिंगानुपात 1098 हैं।

## स्वास्थ्य से जुड़े खास सूचकांक

विभिन्न अध्ययनों द्वारा यह पाया गया कि राष्ट्रीय औसत की तुलना में जनजातीय समुदायों में उच्च शिशु मृत्युदर, पोषण का निम्नस्तर, निम्न जीवन–प्रत्याशा जैसे सूचकांक

**तालिका : 1**
**जनजाति समाज में लिंगानुपात**

| वर्ष | अनुसूचित जनजाति | राष्ट्रीय |
|---|---|---|
| 2011 | 990 | 940 |
| 2001 | 978 | 933 |
| 1991 | 972 | 927 |
| 1981 | 983 | 935 |
| 1971 | 982 | 930 |

स्रोत–जनसंख्या विभाग

बेहतर नहीं है। इसके अलावा ग्लूकोज–6 फास्फेट एन्जाइम की कमी और सिकिल–सेल जैसी बीमारी के मामले भी ज्यादा पाए जाने लगे हैं। आर्थिक रूप से कमजोर होने का असर जनजातीय समुदाय की स्त्रियों में उच्च प्रजनन दर और इससे पैदा होने वाली स्वास्थ्य सुविधाएं आम होती जा रही हैं। (बासु, साथी, 1990; चौधरी, 1990)

जनजातीय समुदायों में गरीबी और कुपोषण का असर परिवार के लड़के और लड़की पर समान रूप से पड़ा है। दोनों मामलों में शिशु मृत्युदर तुलनात्मक रूप से अधिक है। शिशु मृत्युदर (आईएमआर) का अर्थ है कि एक हज़ार जन्म लेने वाले बच्चों में कितने बच्चों की मृत्यु होती है। औसतन देश में आईएमआर घटा है। 1991–95 में आईएमआर 77 प्रति हज़ार था जो 2001–05 में घटकर 55 प्रति हज़ार हो गई। राष्ट्रीय परिवार एवं स्वास्थ्य सर्वे के अलावा 2011 के जनसंख्या के आंकड़े भी बताते हैं कि शिशु मृत्युदर पर बहुत हद तक काबू पाया गया है। अनुसूचित जाति में जन्म के एक साल के भीतर पैदा होने वाले बच्चों की प्रति हज़ार मृत्यु तो ज्यादा नहीं है लेकिन एक साल और चार साल की उम्र के बीच होने वाली बाल मृत्युदर ज्यादा है। इसके अलावा पांच साल के उम्र के भीतर की मृत्युदर भी बाकी समाज से कहीं अधिक है (देखें तालिका 2)। मृत्युदर में संतोषजनक सुधार न होने के पीछे बड़ी वजह बच्चों में जरूरी टीकाकरण का अभाव है। एनएफएचएस 3 के आंकड़े बताते हैं कि अनुसूचित जनजाति के भीतर केवल 31 फीसदी बच्चों को जरूरी टीकाकरण होता है। जबकि अनुसूचित जाति में टीकाकरण वाले बच्चों का 39.7 फीसदी है। पिछड़े और बाकी वर्गो का प्रदर्शन कहीं बेहतर है।

जनजाति समुदाय के भीतर दूसरी बड़ी चुनौती कुपोषण और रक्ताल्पता है। कुपोषण की वजह से पुरुष या स्त्री में बीमारियों से लड़ने की ताक़त खत्म हो जाती है और वह संक्रमण रोगों की चपेट में जल्दी आतें है। यह बीमारियों की एक चक्र पैदा करता है। भारत की जनजाति आबादी में खून की कमी भी तेज़ी से बढ़ा है। एनएफएचएस 3 के मुताबिक 6–59 महीने के 47.3 फीसदी अनुसूचित जनजाति के बच्चों के भीतर मध्यम किस्म की रक्ताल्पता पाई गई। जबकि अनुसूचित जाति और पिछड़े वर्ग में तुलनात्मक रूप से कम है। हालांकि रक्ताल्पता की शिकायत ज्यादातर भारतीय बच्चों में पाया गया है लेकिन जनजाति आबादी में रक्ताल्पता ज्यादा पाई जा रही है। ओड़िसा की आदिम जनजाति पौड़ी भुईया के भीतर 85 फीसदी रक्ताल्पता पाई गई है। मध्य प्रदेश छत्तीसगढ़ के अबुझमरिया जनजाति में 40 फीसदी, बिरहोर में 29 और बैगा में 42.2 फीसदी आबादी रक्ताल्पता का शिकार हैं।

### प्रजनन दर

जनजाति समुदाय के लिए स्वास्थ्य के सूचकांकों पर नजर डालें तो प्रजनन की अधिाक दर (टीएफआर) अभी भी एक चुनौती है। कुल प्रजनन दर यानी टीएफआर में एक महिला द्वारा पैदा किए गए औसत बच्चों की संख्या को लिया जाता है। वर्तमान में देश की कुल प्रजनन दर (टीएफआर) 2.3 है। सरकार इसे दो पर लाने की कोशिश कर रही है। लेकिन जनजाति समाज में टीएफआर 3.12 है।

आदिवासी जनजाति समुदाय में बच्चा जनने के दौरान होनेवाली औसत मृत्युदर बाकी समजों से कहीं ज्यादा है। इसकी सबसे बड़ी वजह है महिलाओं में खून की कमी, पोषक भोजन का अभाव, स्वास्थ्य केंद्र या अस्पताल की जगह घरों में बच्चे का जन्म और कम उम्र में मां बनना है। 21 फीसदी जनजाति महिलाएं कम उम्र (15–19 साल) में मां बनती हैं जबकि अनुसूचित जाति में 20 फीसदी और अन्य पिछड़े वर्ग में 16 है जबकि अन्य वर्ग 15–19 साल की उम्र में मातृत्व धारण करनेवाली महिलाओं का हिस्सा 12 फीसदी है (एनएफएचएस–3)।

किसी भी समाज में लड़की का विवाह किस उम्र में किया जाय यह उसक सामाजिक मूल्यों से निर्धारित होता है। समान्य रूप से आदिवासियों में बाल विवाह का प्रचलन नहीं होता है। आदिवासी समाजों में लड़कियों की शादी सामान्यतः किशोरावस्था के बाद ही की जाती थी। किसी जनजाति में विवाह के समय स्त्रियों की उम्र पर बहुत कम अध्ययन उपलब्ध है। पूर्वोत्तर क्षेत्र के आदिवासी समुदायों में लड़कियों की उम्र शादी के समय अपेक्षाकृत रूप से अधिक है जबकि देश के केंद्रीय भाग में निवास करने वाले आदिवासी समुदायों में यह कम है, ऐसा हिन्दु सांस्कृतिक प्रभाव के कारण है। जैसे आओ नागा (16–20 वर्ष), चैन्चु में किशोरावस्था के बाद, खासी (13–18 वर्ष), कोली (12–16 वर्ष), बोद (19 वर्ष), गोंड एवं मुंडा (18 वर्ष), ओरांव (16 वर्ष) है (सिन्हा 1986)। सिक्किम के भोटिया और लद्दाख के बोद आदिवासी समुदाय बालविवाह से अनभिज्ञ है (भसीन, 1998, 1990)।

### शिक्षा का अभाव

स्वास्थ्य को लेकर सजगता की सबसे बड़ी वजह अशिक्षा है। गांधी जी कहते हैं कि अगर एक पुरुष को शिक्षा मिलती है तो वह एक व्यक्ति साक्षर होता है जबकि एक महिला को शिक्षा मिलती है तो सभ्यता साक्षर होती है। महिलाओं में अशिक्षा या स्कूल से वंचित रहने की सबसे बड़ी वजह ग़रीबी है। राष्ट्रीय परिवार एवं स्वास्थ्य सर्वे के आंकड़े बताते हैं कि बेहतर आय वाले परिवारों की महिलाओं और सबसे कम आय वाले परिवार की महिलाओं के स्कूल से वंचित रहने का फासला बड़ा है। तुलनात्मक रूप से जनजाति महिलाओं की शिक्षा के बारे में प्रदर्शन बहुत ख़राब है। 62 फीसदी जनजाति महिलाओं ने स्कूल का मूंह तक नहीं देखा है। जबकि स्कूल तक नहीं पहुंच पानेवाली अनुसूचित जाति की महिलाओं का हिस्सा 51 फीसदी है (देखें तालिका 3)

जनजाति समाज में शिक्षा की कमी से नई जानकारियों को आत्मसात नहीं कर पाता। जिन माध्यमों के जरिए जनजाति आबादी तक संदेश जाना चाहिए वहां तक समाज के

**तालिका : 2**
**अनुसूचित जनजाति में शिशु और बाल मृत्युदर**

| | शिशु मृत्युदर | बाल मृत्युदर | 5 साल भीतर मृत्युदर |
|---|---|---|---|
| अनुसूचित जनजाति | 62.1 | 35.8 | 95.7 |
| अनुसूचित जाति | 66.4 | 23.2 | 88.1 |
| अति पिछड़ा वर्ग | 56.6 | 17.3 | 72.8 |
| अन्य | 48.9 | 10.8 | 59.2 |

स्रोत–एनएचएफएस–3

हासिए वाले समुदाय की सीमित पहुंच है। 37.8 फीसदी जनजाति आबादी सूचना के माध्यम तक स्थाई पहुंच नहीं है। महिला और पुरुष के बीच जनसंचार माध्यमों तक पहुंच के बीच भी काफी फर्क है। 57 फीसदी जनजाति महिलाएं हैं जो किसी भी किस्म का जनसंचार माध्यम के संपर्क में नहीं आती हैं। जबकि 38 फीसदी पुरुष भी सूचना तंत्र से दूर हैं। इसका सीधा असर सरकार या निजी क्षेत्र के जरिए चलाए जाने वाले स्वास्थ्य कार्यक्रमों के प्रभाव पर पड़ता है। जानकारी के अभाव में जनजाति समुदाय बीमारियों से लड़ने और बचाव के आधुनिक तौर तरीकों से वंचित हो जाता है।

जो सांस्कृतिक प्रतिमान विशेष रुप से स्त्रियों के स्वास्थ्य पर प्रभाव डालते हैं वे हैं – शादी, शादी क तरीके (एक – विवाह या बहु–विवाह), शादी की उम्र, प्रजनन और बच्चे के लिंग से संबंधित सामाजिक – सांस्कृतिक मूल्य, समाज में उस स्त्री की परिस्थिति, निर्णय लेने की क्षमता और सामाजिक एवं सांस्कृतिक परंपराओं के आधार पर स्त्री से आदर्श भूमिका निभाने और र्का करने की अपेक्षा करना (क्षत्रिय, 1992)।

किसी सरकार के लिए सबसे जरूरी होता है कि उसके पास समुचित आंकड़े हों। जिससे अनुसूचित जनजाति के स्वास्थ्य के मौजूदा हालात और योजनाओं की सही तरीक़े से लागू किया जा सके। इसमें सबसे आधारभूत जरूरत है जन्म का पंजीकरण और प्रमाण पत्र देना। पंजीकरण और जन्म प्रमाण पत्र के राष्ट्रीय औसत पर नज़र डालें तो देश के पांच साल से कम आयु के 41 फीसदी बच्चों के जन्म का पंजीकरण हुआ हैं। जिसमें 27 फीसदी बच्चों के पास जन्म प्रमाण पत्र है। कमजोर आय वाले परिवारों में केवल एक चौथाई बच्चों का पंजीकरण हुआ है जबकि हर दस में से केवल एक बच्चे के पास जन्म प्रमाण पत्र है। जनजातीय परिवारों के 39 फीसदी बच्चे पंजीकृत है जबकि 21.6 के पास जन्म प्रमाण पत्र है। इसमें सबसे खास योगदान मिज़ोरम कुल पंजीकरण (93.3) जैसे राज्यों में पंजीकरण का बेहतर रिकार्ड होना है। सिक्किम (85.4) और त्रिपुरा (74.4) जैसे राज्यों का प्रदर्शन तो दिल्ली (62.4) और हरियाणा (71. 7) से बेहतर है।

### खराब स्वास्थ्य के लिए गरीबी और आधारभूत सुविधाएं जिम्मेदार

आर्थिक और सामाजिक जनसाख्यकीय हैसियत को देखें तो आदिवासी समूहों के भीतर बड़े पैमाने पर निर्धनता है। योजना आयोग के मुताबिक करीब जनजाति समूहों की आधी आबादी गरीबी रेखा से नीचे गुजर–बसर करती है। केवल 7–10 फीसदी जनजाति आबादी ऐसी है जिसकी महीने की आमदनी दस हजार रुपए है। तुलनात्मक रूप से अनुसूचित जनजाति समुदाय को आधारभूत सुविधाओं जैसे आवास, भोजन, ईंधन के लिए रोजाना जदोजहद करनी पड़ती है। आंकड़े बताते है कि केवल 40.6 फीसदी अनुसूचित जनजाति के पास सिर पर छप्पर यानी निवास है। जबकि बाकी समुदाय के 53.1 फीसदी लोगों के पास यह सुविधा है। यही नहीं 77 फीसदी अनुसूचित जनजाति के रिहायसों के पास शौचालय नहीं है। इसी तरह 87 फीसदी अनुसूचित जनजाति के लोग खाना बनाने के लिए धुआं पैदा करने वाले ईंधन इस्तेमाल करते हैं।

### पर्यावास में बदलाव और विकास का असर

जनजाति समाज का बड़ा आर्थिक आधार जंगल से जुड़ा है। तेज़ आर्थिक विकास की दौड़ में वनों पर दबाव बढ़ा है। 1952 में सरकार ने पहली बार औद्योगिक विकास को ध्यान में रखते हुए वन नीति जारी किया। जिसमें वन के एक हिस्से को व्यावसायिक तौर पर कच्चे माल के रूप में इस्तेमाल की बात मानी गई। यहीं से जनजाति समाज का आधुनिक समाज के आर्थिक हितों के बीच संघर्ष शुरू हुआ। दोबारा 1988 में भारत सरकार नई वन नीति लेकर आई। जिसमें आदिवासियों को समस्या की जगह समाधान के रूप में देखा गया। बावजूद इसके वनों जंगल पर आधारित आदिवासियों की जीवन से जुड़ा पर्यावास और रोजी–रोटी नज़रअंदाज होने लगी। सरकार की विकास परियोजनाएं, सरकारी और निजी औद्योगिक इकाइयों की स्थापना, खनन, हाइड्रोइलेक्ट्रिक तथा सड़क और परिवहन की परियोजनाओं के चलते उन्हें अपने जंगल और ज़मीन से अलग होना पड़ा। यहीं से जनजाति समाज का शहरों की ओर पलायन शुरू हुआ। पारंपरिक दवाओं के अभाव और आधुनिक इलाज के तरीक़ों को आत्मसात न कर पाने से जनजाति समाज के स्वास्थ्य की हालत पर खराब असर पड़ा है।

### जनजाति समाज के लिए सरकारी प्रयास और योजनाएं

अनुसूचित जनजाति के स्वास्थ्य का सीधा संबंध उनके आर्थिक सशक्तीकरण पर टिका है। सरकार ने इस बारे में आज़ादी के बाद से चनणबद्ध तरीक़े से कई कार्यक्रम चलाया। तकरीबन सभी योजनाओं में अनुसूचित जाति के विकास को एक प्रमुख उद्देश्य के रूप में चिह्नित किया गया। हालांकि अनुसूचित जनजाति में आर्थिक सशक्तीकरण सांसकृतिक रूकावटों और परंपराओं से लड़ते हुए हासिल करना था इसलिए इसमें देरी स्वाभाविक थी। धीमी प्रगति और नये रहन–सहन के हालात में बदलाव से जनजाति समूहों के लिए मानसिक और शारीरिक बीमारियां तेजी से फैलने लगी। जिसके बाद सरकार ने 1983 में घोषित राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति के भीतर तत्काल प्रभाव से अनुसूचित जनजातियों के लिए खासतौर पर नीतिगत घोषणाएं की। जिसमें महामारियों से निपटने के लिए खास रणनीति और इंतजाम की बात कहीं गई। स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय ने 1981 में अलग से जनजाति विकास योजना सेल बनाया। जिसमें इस समाज के लिए घोषित योजनाओं की देखरेख और सही तरीके से लागू कराने की गारंटी दी जा सके। जनजाति समूह सुदूर पहाड़ों, जंगलों और गावों में बसते हैं इसलिये मंत्रालय ने उप–स्वास्थ्य केंद्र खोलने वाले नियमों में खासतौर पर ढ़ील दी। पहाड़ी क्षेत्रों में उपकेंद्र स्थापित करने के लिए कम से कम 3 हजार की आबादी की शर्त कर दी गई। यह शर्त मौदानी इलाक़ों के लिए 5 हजार थी। ठीक इसी तर्ज़ पर प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र (पीएचसी)

**तालिका : 3**
**जनजाति समाज में साक्षरता**

| वर्ष | अनुसूचित जनजाति | अन्य वर्ग |
|---|---|---|
| कुल | 63.1 प्रतिशत | 72.8 प्रतिशत |
| महिला | 54.4 प्रतिशत | 64.0 प्रतिशत |
| पुरुष | 71.7 प्रतिशत | 81.1 प्रतिशत |

स्रोत–एनएचएफएस–3(2005–06)

के लिए आबादी की शर्त 20 हज़ार की गई जबकि मैदानी इलाक़ों में प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र के लिए कम से कम 30 हज़ार की आबादी ज़रूरी थी। पहाड़ी और जनजाति इलाकों के लिए सामुदायिक स्वास्थ्य केंद्र (सीएचसी) खोलने की सीमा को 80 हज़ार किया गया। इस मामले में भी मैदानी इलाकों के लिए शर्त एक लाख बीस हजार आबादी की थी। इसी तरह जनजाति बहुल इलाक़ों में बहुउद्देशीय कायकर्ता रखने की शर्त भी तीन हजार की गई जो मैदानी इलाकों में 5 हजार थी। न्यनतम जरूरी कार्यक्रम के तहत जनजाति इलाक़ों में 1999 तक 20, 769 उपकेंद्र 3286 प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र और 541 सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्र खोले गए।

इसके अलावा केंद्रीय योजना समीति ने स्वास्थ्य सुविधाओं को पहुंचाने के लिए सुदूर जनजातीय इलाक़ों की पहचान की जिसमें 13 राज्यों के 52 जिले शामिल थे। राष्ट्रीय मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम के साथ जापानी बुखार, कालाजर, फाइलेरिया जैसी बीमारियों को रोकने के लिए विशेष प्रयास किए गए। इसमें केद्र की ओर से राज्यों को कुल ख़र्च का 50 फीसदी भुगतान करने का फैसला किया गया। मलेरिया नियंत्रण के लिए विश्व बैंक की सहायता से 100 जनजाति जिलों की पहचान की गई जिसमें मध्य प्रदेश, आंध्र प्रदेश, बिहार, गुजरात, महाराष्ट्र और ओड़िसा जैसे जिले शामिल थे।

केंद्र सरकार ने जनजातीय इलाकों में कुष्ठ निवारण के लिए कार्यक्रम की शुरुआत की। इस योजना के दायरे में देश का पूरा जनजातीय क्षेत्र शामिल था।

जनजाति समूहों को सबसे ज्यादा उम्मीद 2005 में शुरू की गई राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य योजना (एनआरएचएम) से है। जिसका खास उद्देश्य ग्रामिण इलाक़ों में बेहतर स्वास्थ्य सुविधाएं उपलब्ध कराना है। इसके तहत गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन करने वाली महिलाओं के लिए जननि स्वास्थ्य योजना (जेएसवाई) काफी कारगर साबित हुई है। 19 साल से ऊपर की महिला अगर किसी अस्पताल में बच्चे को जन्म देती है तो उसे 700 रुपये देने का प्रावधान है। घर पर बच्चा पैदा होने की हालत में 400 रुपये दिया जाता है। हालांकि एनआएचएम के समाने जनजाति समाज के स्वास्थ्य को लेकर ठोस आंकड़ों का अभाव है। बावजूद इसके एनआरएचएम ने माना है कि स्वास्थ्य सेवाओं की फौरी जरूरत जनजाति समाज की महिलाओं को सबसे ज्यादा है।

सरकार ने स्वास्थ्य सुविधाओं के साथ कई आर्थिक योजनाएं भी शुरू की। 1951 से अनुसूचित जनजाति के लिए विशेष प्रयास शुरू हुए। इसके बाद 1956 में पंचशील सिद्धांत को अपनाया गया। जिसमें जनजाति समाज के विकास के लिए पांच दिशानिर्देशों को चिह्नित किया गया। जनजाति विकास को तेज करने के लिए 1961 में सरकार ने बहुउद्देशीय जनजाति विकास ब्लॉक खोल दिया। पांचवी पंचवर्षीय योजना में अलग से ट्राइबल सब प्लान (टीएसपी) की शुरुआत की। इसका उद्देश्य विकास की सीधे जनजाति समाज तक पहुंचाना था। केंद्र और राज्य जनसंख्या के आधार पर कोष मुहैया कराना शुरू किए। जिससे कल्याणकारी और विकास योजनाओं को कारगर तरीके से लागू किया जा सके। छठी योजना (1980–85) में जनजाति विकास के मद में पैसा बढ़ाया गया ताकि 50 फीसदी आबादी गरीबी रेखा से ऊपर उठ सके। जबकि सातवीं योजना (1985–90) में विकास के लिए आधारभूत संरचना पर जोर दिया गया। इस योजना में शिक्षा पर जोर डाला गया और अनुसूचित जनजाति के आर्थिक विकास के लिए दो महत्वपूर्ण संस्थानों की नींव डाली गई। 1987 में ट्राइबल कोऑपरेटिव मार्केटिंग डेवलपमेंट फेडरेशन (टीआरआईएफईडी) और 1989 में राष्ट्रीय अनुसूचित जाति एवं जनजाति वित्त और विकास निगम (एनएसएफडीसी) खोला गया। टीआरआईएफईडी जहां राज्य जनजाति विकास कोरपोरेशन की उच्च बॉडी बना वहीं एनएसएफडीसी का शुरुआती मकसद जंगल और कृषि उत्पाद का बेहतर मूल्य दीलाना था जो बाद में रोज़गारपरक कर्ज देने का काम भी करने लगा। आठवीं योजना (1992–97) में जनजाति समाज और बाकी वर्गों के बीच की खाई को भरने का संकल्प लिया गया। अनुसूचित जनजातियों के शोषण को रोकने के अलावा अधिकारी की गारंटी दिलाने पर भी जोर दिया गया। इसमें जमीन से बेदखली राकने, न्यूनजम मजदूरी, जरूरतमंद अल्प जंगली उत्पादों को इकट्ठा करने जैसे अधिकार शामिल थे। नौंवी योजना (1997–2002) खासतौर पर जनजाति मामलों के मंत्रालय ने कई नई योजनाएं शुरू की गई।

**निष्कर्ष**

भारत ही नहीं पूरी दुनिया में जनजाति आबादी चौतरफा दबाव में है। कई जगहों पर तो वे लुप्त होने के कागार पर पहुंच चुकी हैं। ऐतिहासिक साक्ष्य बताते हैं कि खसरे जैसी बीमारी से 1967–1975 के बीच ब्राज़ील के रोराइमा में बसने वाले यानोमामी समुदाय विलुप्त होने के कगार पर पहुंच गया है। उनके आसपास के बाकी समुदायों की आबादी में भी 70 फीसदी की गिरावट आ गई। अंडमान–निकोबार द्वीप के ओंग समुदाय का उदाहरण हमारे सामने हैं। जिनकी आबादी में भारी गिरावट देखी जा रही है।1900 में आंग की आबादी 670 थी जो 1961 में 169 पर आ गई। 1991 के उपलब्ध आंकड़ों के मुताबिक अब केवल 70 लोग ओंग समुदाय के बचे हैं। ओंग अंग्रेज शासन के समय से कई बीमारियों से लड़ते रहे। वे खासकर खसरा और इनफ्लुएंजा के शिकार बनते गए। आजादी के बाद भी ओंग समुदाय में 170 बच्चे पैदा हुए और उनमें से कोई भी दो साल उम्र पूरी नहीं कर सका। ऐसे में भारत सरकार ने उन्हें स्ट्रेट आईलैंड पर बसाने की योजना बनाई। जहां उन्हे सरका घर खाना और कपड़ा मुहैया करा रही है। बावजूद इसके वे बड़े स्तर पर तपेदिक के शिकार बन रहे हैं।

इसलिए यह साफ है कि अनुसूचित जनजाति के स्वास्थ्य के बेहतर बनाने की पहली शर्त यही है कि आर्थिक विकास से जोड़ने के लिए बेहद संवेदनशील रवैया अपनाना होगा। यह समझना होगा कि एक आबादी जहां रहने के लिए अभ्यस्त थीं तो वह केवल उनके लिए एक घर नहीं था। वे रोजी–रोटी के लिए किसी आयातित उत्पाद पर निर्भर नहीं होते हैं। बीमारियों का इलाज पारंपरिक और फूल–पौधों के जरिये करते हैं। जो अपनी जहां से बेदखल कर दिए जाते हैं। उन्हें मानसिक और शारीरिक झटके के साथ–साथ सांस्कृतिक बिखराव का समापना करना पड़ता है। इसलिए विकास के मॉडल में जनजाति समुदाय से जुड़े पहलुओं को शामिल करना बेहद जरूरी है। यह सभ्यता की दरकार है कि वे विकास में पीछे छूट चुकी अपनी आबादी को बचाए। ❑

**(लेखिका सेंटर फॉर एनवॉयरमेंट एंड डेवलपमेंट, एटीआरईई, बंगलुरु में पोस्ट डाक्टोरल फेलो हैं। ई–मेलः** nutanmaurya@gmail.com**)**

# नवउदारवाद के दौर में जनजातियां

• रहीस सिंह

आज 21वीं सदी में जब दुनिया के नये स्वरूप, नयी प्रतिस्पर्द्धा, विकास की नये–नये तकनीकी नामों और उसके प्रभावों पर लंबे–चौड़े विमर्श हो रहे हों, तब यह बात बहुत ही महत्वपूर्ण हो जाती है कि यह विकास दुनिया के दीगर लोगों का है या वर्ग, क्षेत्र या राज्य विशेष का। आज जिस नवपूंजीवाद के छद्मनाम उदारवाद के प्रचार का दौर चल रहा है तो उसके उस मौलिक चरित्र पर फ़ोकस करना जरूरी हो जाता है जिसे विलियम फॉसेज ने अपने अध्ययन में पाया है। 1993 के अर्थशास्त्र का नोबेल पुरस्कार जीतने वाले अमरीकी अर्थशास्त्री रॉबर्ट विलियम फॉसेज ने अपने एक अध्ययन के दौरान यह पाया कि दास प्रथा के कारण ही अमरीका को बाज़ारवादी व्यवस्था का नेतृत्वकर्ता बनने का अवसर मिला और इस प्रक्रिया में पूरी की पूरी नीग्रो नस्ल ही गायब हो गई। अनुमान लगाया जाए कि दुनिया के सभी भागों में जहां इस तरह का विकास पहुंचा होगा वहां स्थिति क्या रही होगी। दो स्थितियां संभव हैं– प्रथम यह कि उनका हस्र वही हुआ होगा जो अमरीका में नीग्रोज का हुआ और द्वितीय कि जिस देश में वास करती हैं उसके विकास में किसी भी तरह से भागीदार ही नहीं बनी होंगी। अब सवाल यह उठता है कि क्या इसी तरह के निष्कर्ष भारत की जनजातियों के बारे में भी निकाले जा सकते हैं ? क्या भारत में जो विकास हुआ वह इन्हें मूलधारा में ला सके या फिर वंचितों की जमात का एक हिस्सा बनकर सिर्फ़ गणनाओं तक सिमट कर रह गई ?

भारत की स्वतंत्रता की लड़ाई में जनजातियों की निर्णायक भूमिका रही लेकिन ऐसा लगता है कि भारत के विकास में उन्हें उनकी भागीदारी से वंचित रखा गया। इसकी एक झलक तो भारतीय इतिहास लेखन में ही पा सकते हैं जहां लंबे समय तक उन्हें स्थान ही नहीं दिया गया। जब इतिहास लेखन में 'नीचे से देखने' (सबाल्टर्न) के दृष्टिकोण विकसित हुआ तब उनकी भूमिका सामने आ सकी। उनकी अपनी विशिष्ट संस्कृति, उत्पादन के भिन्न तरीके, जीवन जीने की शैली और आधुनिकीकरण से दूरी तथा आर्थिक दृष्टिकोण में उनके स्थान का निर्धारित न हो पाना, आधुनिक विकास से दूरी के लिए प्रमुख कारण बना। यद्यपि भारतीय संविधान में उन्हें पर्याप्त संरक्षण और सहयोग देने के उद्देश्य से कुछ सुरक्षा उपाय हैं और पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत भारत की विकास की रणनीति में उनके विकास को काफी महत्व दिया गया है, इसके बाद भी वे 'वंचित' की श्रेणी से ज्यादा आगे बढ़ नहीं पाई हैं।

दुनिया के 60 से अधिक देशों में लगभग 150 मिलियन जनजातियां निवास करती हैं जिनमें से संभवतः सबसे बड़ी संख्या भारत में निवास करती है। लेकिन पूरी दुनिया में कहीं भी वे मानवीय सम्मान को प्राप्त नहीं कर पा रही हैं। भारत में ही नहीं बल्कि पूरी दुनिया में जनजातियों के संदर्भ में विकास और प्रयास तो दूर उनके विषय में स्पष्ट और सुलझे विचारों का भी अभाव रहा है। यही कारण है कि औपनिवेशिक काल से लेकर अब तक कई बार उन्हें भिन्न–भिन्न नामों से चिह्नित या इंगित किया गया। यहीं नहीं उनके आध्यात्मिक और आर्थिक जीवन के संबंध में भी एक राय नहीं रहती। मसलन जनगणना के अनुसार उनके धर्म को 'आत्मावाद' की श्रेणी में रख दिया जाता है तो दूसरे जनजातीय धर्म की सर्वथा पृथक श्रेणी बना दी जाती है। कभी उन्हें क्षेत्रीयता के आधार पर जानने की कोशिश की जाती है तो कभी जातीयता या नस्ल के आधार पर। कभी इन्हें आर्थिक समस्याओं के आधार पर एकत्रित किया जाता है तो कभी संस्कृति के आधार पर। इन जनजातियों की सही गणना भी नहीं हो पाती, इसलिए वास्तविकता तो यह है कि इनकी सही स्थिति का अनुमान करना कठिन कार्य होता है। उदाहरण के तौर पर 1911 की जनगणना को देखें तो एक एक रिपोर्ट बताती है कि भारत में अंडमान–निकोबार द्वीप समूह जैसे इलाक़ों में ऐसी जनजातियां रहती हैं जो इंसानों से मेलजोल नहीं रखतीं और उनसे संपर्क रखना भी प्रतिबंधित है क्योंकि इन लोगों का दिन में कोई एक ठिकाना नहीं होता, इसलिए इनकी गणना के लिए रात का समय तय किया जाता है। लेकिन इनकी गिनती भी ज़रूरी है, इसलिए सर्वेक्षक उन इलाक़ों के स्थानीय प्रशासन के साथ मिलकर कुछ अलग रास्ता निकालते हैं। इनसे आकर्षित हों जनजातियों के सदस्य द्वीप से पानी की तरफ आते हैं, तभी उनकी गणना हो पाती है।

पहाड़ी इलाक़ों में रहने वाले कई लोग अपनी भेड़–बकरियों को लेकर कई महीनों तक पहाड़ों के ऊपरी हिस्सों में रहने के लिए चले जाते हैं। ऐसे इलाकों में पहले से संपर्क बनाकर इन लोगों तक इस प्रक्रिया की जानकारी पहुंचाई जाती है। वास्तव में, इनमें बाह्य संस्कृतियों के संपर्क के अभाव यह सांस्कृतिक संपर्कों में (जीरो प्वाइंट) के न होने के कारण बहुत–सी समस्याएं उत्पन्न होती हैं। बहरहाल, एक अध्ययन के अनुसार कुछ जनजातीय समूहों के अपने से अधिक उन्नत संस्कृतियों के संपर्क में आने से या तो उनकी समस्याओं में वृद्धि हुई है या फिर समायोजन हुआ है। लेकिन यह सही स्थिति को व्यक्त नहीं करता। भारत में अधिकांश जनजातियां आज भी वनों में निवास करती हैं और वे वन्य प्राकृतिक साधनों पर ही निर्भर रहती हैं। कोचीन के कदार, त्रावणकोर के मलायांतर, मद्रास के पलियान और वायनाद

के पनियन ऐसे ही कबीले हैं। कुछ कबीलों की अर्थव्यवस्था खाद्य पदार्थों की संग्रह और पिछड़ी कृषि के बीच की है। इन जनजातियों में प्रमुख रूप से मध्य प्रदेश के कमार और मांडला क्षेत्र के बैगा तथा दक्षिण में बिसन पहाड़ियों के रेड्डी आते हैं। भारत की जनजातियों की तीसरी आर्थिक श्रेणी में देश की अधिकांश जनजातीय जनसंख्या को रखा जा सकता है। यह श्रेणी उन जनजातियों की है जिनके जीवकोपार्जन का मुख्य साधन कृषि है लेकिन जिन्होंने वनों की निकटता के कारण संग्रह को दूसरे मुख्य व्यवसायों के रूप में अपना लिया है।

वर्तमान में भारत में जनजातियों की संख्या लगभग साढ़े आठ करोड़ के आसपास है जो देश की कुल जनसंख्या के 8 प्रतिशत के आसपास है। उल्लेखनीय है कि इस जनजातीय जनसंख्या का 90 प्रतिशत से भी ज्यादा ग्रामीण है जबकि लगभग आठ प्रतिशत शहरी क्षेत्र में निवास करता है। भारत की जनजातियों का सर्वाधिक संकेंद्रण मध्य प्रदेश में है जहां 1.22 करोड़ लोग अनुसूचित जनजाति के हैं, तत्पश्चात महाराष्ट्र (85.77 लाख), ओडिशा (81.45 लाख), गुजरात (74.81 लाख) तथा राजस्थान (70.97 लाख) का स्थान आता है। लेकिन यदि जनसंख्या में कुल जनजातीय प्रतिशतता को देखें तो यह मिज़ोरम (94.5 प्रतिशत) और लक्षद्वीप (94.5 प्रतिशत) में सर्वाधिक है इसके पश्चात नगालैंड (89.1 प्रतिशत) और मेघालय (85.9 प्रतिशत) आते हैं। विशेष बात यह है कि देश की 68 प्रतिशत जनजातीय जनसंख्या केवल 7 राज्यों में निवास करती है। चूंकि जनजातीय समुदाय ऐसी परंपरा और संस्कृति से जुड़ा रहा है जिसमें हस्तक्षेप की संभावनाएं अधिक हैं और ऐसा देखा भी गया है। वैधानिक सेफगार्ड्स तो केवल सैद्धांतिक पहलू भर हैं, वास्तविक पहलू इससे भिन्न है। इसलिए ज़रूरी है उनका उचित क्रियान्वयन हो। सैद्धांतिक पक्ष से तो बेहतर हैं कि उनके जीविका और निवास, स्वास्थ्य और शिक्षा की प्रगति को सुनिश्चित किया जाए। पहली पंचवर्षीय से लेकर 11वीं पंचवर्षीय योजना तक के लंबे सफ़र में उनके लिए क्या आर्थिक प्रावधान किए गए और उन प्रयासों का उन पर असर कितना हुआ, इसकी पड़ताल अब होनी चाहिए।

पहली पंचवर्षीय योजना में जनजातीय क्षेत्रों के विकास के लिए कोई महत्वपूर्ण तथा विशेष भूमिका का निर्वहन नहीं किया गया क्योंकि कुछ अनिवार्य क्षेत्रों जैसे, शिक्षा, कल्याणकारी योजनाओं आदि को इसमें शामिल कर लिया गया था। इन कार्यक्रमों ने जनजातीय समुदाय के जीवन पर व्यापक प्रभाव डाला। पंचवर्षीय योजना के दौरान जनजातीय क्षेत्रों में सामाजिक–आर्थिक समस्याओं के बुनियादी विकास कार्यक्रमों की योजना बनाई गई। इस योजनाकाल में निश्चित जनजातीय क्षेत्रों में बहुउद्देश्यीय जनजातीय प्रोजेक्ट्स' को संबद्ध कर एक महत्वपूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था लागू की गई। तीसरी योजना में वैरियर एल्विन समिति की संस्तुति पर 'जनजातीय विकास खंड व्यवस्था' को उपकरण की तरह प्रयुक्त किया गया। यह व्यवस्था जनजातीय क्षेत्रों के केवल ऊपर–ऊपर से नहीं बल्कि जनजातीय लोगों को पंचायत संस्थाओं के माध्यम से विकसित करने के लिए अपनाया गया था। इन कार्यक्रमों और क्षेत्रीय योजनाओं, जोकि योजनागत विकास के लिए संस्था के रूप में स्वीकार की गई थीं, ने जनजातीय अर्थव्यवस्था तथा सामाजिक–सेवा का कुछ हद तक उत्थान किया। लेकिन चूंकि उनकी विकास की गति बहुत धीमी थी अतः जनजातीय क्षेत्रों के कुछ निश्चित क्षेत्रों और समूहों में बहुत ही पिछड़ेपन की दशा बनी रही। चौथी पंचवर्षीय योजना के शुरुआत होने के समय ही अनुसूचित जनजाति और इंटेंसिव डेवलपमेंट एरियाज जहां बड़े पैमाने पर जनजातियां रहती हों, में आर्थिक सुधार के लिए 489 जनजातीय विकास खंड बनाए गए। इन विकास खंडों को 10 से 15 वर्ष तक कार्य करना था और प्रति ब्लॉक के लिए 10 लाख रुपये प्रति पांच वर्ष के लिए आवंटित किए गए थे। इस योजना पर केंद्र सरकार द्वारा लगभग 75 करोड़ रुपये ख़र्च किए गए। इसके अतिरिक्त अन्य कार्य भी किए गए जिसमें भूमि–उपनिवेशीकरण कार्यक्रम प्रारंभ किए और कुछ जनजातीय कॉलोनी स्थापित की गईं फार्मिंग सोसाइटियां स्थापित की गईं और फॉरेस्ट एक्साइज द्वारा जनजातियों को कुछ रियायतों का प्रस्ताव किया गया।

क्षेत्र आधारित योजनाओं, जैसे जनजातीय विकास खंड तथा जनजातीय विकास एजेंसीज के परिणाम बेहतर न आने से पांचवीं पंचवर्षीय योजना में एक नयी रणनीति अपनायी गई जिसमें जनजातीय क्षेत्र के लिए सहायक योजनाएं शामिल की गईं। यह अनुमान किया गया कि कुल जनजातीय जनसंख्या की लगभग 2/3 जनसंख्या को सहायक योजनाओं के माध्यम से शामिल किया जाएगा। इस दौरान जनजातीय समस्या को वृहत स्तर पर दो श्रेणियों में विभक्त किया गया। पहली थी जनजातीय केंद्रण वाले क्षेत्र और दो– बिखरी हुई जनजातियां। इस योजना के दौरान तहसील/ब्लॉक स्तर की कुल जनसंख्या की 50 प्रतिशत को जनजातीय सहायक योजनाओं में शामिल किया गया। सब्सटैंसियल जनजातीय जनसंख्या को निम्नलिखित फार्मुलेशन द्वारा कवर किया गया। बिहार में 72 प्रतिशत, ओडिशा में 68 प्रतिशत, हिमाचल प्रदेश की 9 प्रतिशत, गुजरात की 59 प्रतिशत, मध्य प्रदेश की 75 प्रतिशत, मणिपुर की 94 प्रतिशत, गोवा, द्विव दमन की 100 प्रतिशत, नगालैंड तथा नगर हवेली की 99 तथा राजस्थान की 44 प्रतिशत आदि। ऑपरेशनल उद्देश्य के लिए ट्राइबल सब–प्लान क्षेत्रों को 178 जनजातीय विकास परियोजनाओं में संगठित किया गया । इसके बाद भी योजनाओं में जनजातीय जनसंख्या के लिए लगातार प्रयास किए गए जिनके परिणाम भी सामने आए हैं। जैसे छठी पंचवर्षीय योजना के दौरान 10,000 जनजातीय जनसंख्या (जिसमें लगभग 50 प्रतिशत जनसंख्या अनुसूचित जनजाति में आती हो) के पॉकेट्स बनाकर मॉडीफाइड एरिया डेवलपमेंट अप्रोच (एमएडीए) सिस्टम विकसित किया गया और सातवीं योजना में एरिया–कम–फैमिली को मिश्रित रूप से उद्देश्यों के तहत लाया गया। इस योजना के तहत सिक्किम में तीन नये 'एकीकृत जनजातीय विकास कार्यक्रम' (इंटीग्रेटेड ट्राइबल डेवलपमेंट प्रोग्राम–आइटीडीपी) शामिल किए गए जिसका परिणाम यह हुआ कि 1987–88 तक कुल 184 'एकीकृत जनजातीय विकास कार्यक्रम' (आइटीडीपी) व्यावहारिक रूप क्रियाशील हुए, जिनके अंतर्गत 313.21 लाख जनजातीय आबादी थी।

इस प्रकार से केंद्रीय योजना के तहत जनजातियों के विकास की जो रणनीति अपनायी गई उसका व्यापक प्रभाव यह दिखा कि वे जनजातियां, जिनका जीवन एक कुनबे से आरंभ होता था और कुनबे में ही समाप्त हो जाता था, अब मूलधारा में यदि पूर्णतः भाामिल नहीं हो सकीं तो कम से उसके अति–निकट आ गई। यदि भारत संघ की

अखिल भारतीय सेवाओं तथा विधान निर्माण व कार्यपालन में उनकी सहभागिता को देखा जाए तो यह बात पूरी तरह से स्पष्ट भी हो जाती है। विभिन्न योजनाओं के तहत उनके लिए जो कार्यक्रम बनाए गए थे उसके फल स्वरूप उनमें कार्यशील संख्या का विस्तार हुआ है, जिससे वे अपनी जीविका के लिए संसाधन तलाशने की भाक्ति अर्जित करने की ओर प्रवृत्त हो सकीं। इस दिशा में पहली प्रगति साक्षरता की रही।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि भारत की आर्थिक और सामाजिक प्रगति में जनजातियों को बराबरी का हक़ नहीं मिल सका क्योंकि वे एक जैसी गति से प्रगति नहीं कर पाई। हालांकि इसमें केवल सरकार के कार्यक्रमों और रणनीतियों को ही दोषी नहीं माना जा सकता बल्कि इसका मूल कारण उनकी अलग–थलग रहने की जीवन शैली रही जो धीरे–धीरे ही विकास कार्यक्रमों से जुड़ सकी। इस दौरान संतुष्ट करने लायक बात यह रही कि श्रम विभाजन में जनजातियों की भागीदार उपयुक्त रही जिससे जीवन–शैली के नवनिर्माण को सही दिशा मिल सकी। फिर भी उनका पिछड़ापन बरकरार दिखायी देता है क्योंकि वे गरीबी रेखा से ऊपर उठने में सामान्य वर्गों की अपेक्षा बहुत पीछे रह गए (देखें तालिका)।

**तालिका**

**अखिल भारतीय सेवाओं में अनुसूचित जनजातियों का प्रतिनिधित्व (1996–2000)**

| | आई.ए.एस. | | आई.पी.एस. | | आई.एफ.एस. | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | 1996 | 2000 | 1996 | 2000 | 1996 | 2000 |
| कुल | 5047 | 5,519 | 2947 | 3301 | 2305 | 2537 |
| अनु.ज.जा. | 270 | 261 | 208 | 229 | 158 | 179 |
| प्रतिशत | 5.3 | 5.1 | 7.1 | 6.9 | 6.9 | 7.0 |

स्रोत : डिपार्टमेंट ऑफ पर्सनल एंड ट्रेनिंग, भारत सरकार

बहरहाल, आज़ादी प्राप्त होने के बाद जब भारत ने स्वतंत्र विकास की बुनियाद रखी तो उसने संविधान के प्रावधानों व संविधान की प्रस्तावना में की गई अपेक्षाओं के अनुरूप आगे बढ़ने का प्रयास किया। चूंकि भारत के विकास के मॉडल के बुनियादी तत्व में एक समतामूलक समाज की स्थापना भी शामिल था, इसलिए स्वाभाविक था कि भारत के उस हिस्से (जनजातीय समुदाय) को भी विकास के अपेक्षित अवसर उपलब्ध कराए जाते जो अभी तक वंचनाओं का पूरी तरह से शिकार रहा था। फलतः जनजातियां इस दायरे में लाई गईं और उनके विकास की नयी रणनीति बनाई गई। आज वे न केवल सामान्य कार्यशील आबादी का एक अभिन्न हिस्सा हैं बल्कि अखिल भारतीय प्रशासनिक सेवाओं से लेकर विधायन व कार्यपालन के क्षेत्र में बेहतर प्रतिनिधित्व कर रही हैं।

अब तक की योजनाओं के काल में भारत की जनजातियों के विभिन्न विकास कार्यक्रमों को रणनीति के तौर पर स्वीकार कर भारत सरकार ने उनके स्तर को ऊपर उठाने का जो प्रयास किया है, उसमें वह सफल भी रही इसलिए कुनबा डूबने जैसी बात तो स्वीकार नहीं की जा सकती। लेकिन अभी भी यह मुद्दा विचार करने योग्य है कि क्या इसे इसी तरह से चलने दिया जाए या फिर उस पर नये सिरे से रणनीति बनायी जाए, क्योंकि विकास में जो फ़ासला बढ़ रहा है वह चिंता का विषय है। यही फासला पहले अलगाववादी प्रक्रिया को जन्म देता है और फिर उसे विद्रोह/चरमपंथी आंदोलन तक ले जाता है, जो राष्ट्र की एकता और अखंडता के लिए ख़तरा बन सकता है। यह बात सिर्फ़ भारत में निवास करने वाली जनजातियों के लिए नहीं बल्कि वैश्विक जनजातियों पर भी लागू होती है। याद रहे कि ये वंचित समूह नहीं हैं बल्कि अब इनकी प्रत्येक क्षेत्र में किसी न किसी रूप में भूमिका है। अब जरूरी है कि इन्हें वंचितों की श्रेणी से निकालकर क्रियाशील समुदाय में परिवर्तित किया जाए। लेकिन यह कार्य आसान नहीं होगा क्योंकि बाज़ार ऐसा नहीं चाहता।

❐

**(लेखक विदेशी मामलों के जानकार हैं।**
**ई–मेल** : raheessingh@gmail.com)


# योजना अब फेसबुक पर

आपकी लोकप्रिय पत्रिका योजना अब फेसबुक पर Yojana Journal नाम से पृष्ठ के साथ मौजूद है। हमारे फेसबुक पृष्ठ पर आएं और हमारी गतिविधियों तथा आगामी अंकों के बारे में ताज़ी जानकारी करें।

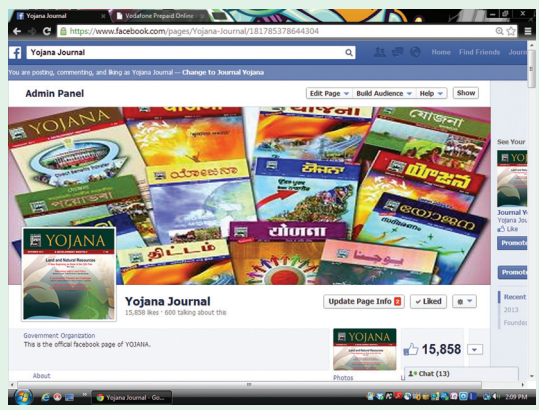


हमारा पत्ता : http://www.facebook.com/Pages/Yojana-Journal/181785378644304?ref-hL

फेसबुक पर हमसे मिलें, Like करें और अपने बहुमूल्य सुझावों से हमें अवगत कराएं।

# बुनियादी सुविधाएं और आदिम समाज

• ज्योत्सना राय

भारत की पंद्रहवीं जनगणना 2011 में हुई और इस राष्ट्रीय कार्य को बहुत घ्यान से और समय लगाकर निर्धारित समय पर किया गया। इस लेख को जनगणना के नतीजों के आधार पर लिखा गया है। लेख में प्रयास किया गया है कि एक विवेचना की जाए कि देश पिछले दशक में आदिवासियों/जनजातियों के आम जीवन जीने की मूलभूत सुविधाओं की उपलब्धता में कोई सुधार हुआ है या नहीं? इस लेख के लिए शौचालय और रसोईघरों की उपलब्धता को केंद्र में रखा गया है। इन दो का चुनाव इसलिए विशेष है कि यह रोज़मर्रा की जीवन की सुविधाएं हैं और परिवार के स्वास्थ्य पर प्रभाव डालती हैं। इसके अतिरिक्त इसके कारण महिलाओं और बालिकाओं की सुरक्षा, स्वास्थ्य एवं समय के उपयोग पर विशेष प्रभाव पड़ता है।

देश कि सकल जनसंख्या के अनुपात में जनजातियों की संख्या 8.6 प्रतिशत है यानी इस समय जनजातीय जनसंख्या 10,42,81,034 है, 5,24,09,823 (50.25 प्रतिशत) पुरुष और 5,18,71,211 (49.74 प्रतिशत) महिलाएं हैं।

भारत की जनगणना के आधार पर आदिवासी क्षेत्रों पर नज़र डालने पर दीखता है कि भारत के पूर्वोत्तर के राज्यों और मध्य भारत के राज्यों में 20.1 प्रतिशत से 40.1 प्रतिशत से ऊपर जनजातीय जनसंख्या हैं। 35 राज्यों में 65 जिले ऐसे हैं जिनमें 25 प्रतिशत से 50 प्रतिशत के बीच जनजातीय जनसंख्या हैं और 90 जिलों में 50 प्रतिशत से ज्यादा जनजातियां निवास करती है। जनगणना के अनुसार पंजाब, हरियाणा और दिल्ली को छोड़कर अन्य सभी राज्यों में अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या कम या अधिक संख्या में मौजूद है।

2011 की जनगणना के आधार पर देश में शहरों की जनसंख्या 31 प्रतिशत से बढ़ रही है और 2030 तक शहरी जनसंख्या 34 प्रतिशत हो जाएगी। इस पूरी संख्या में से मात्र 10 प्रतिशत (1,046,987) जनजातीय जनसंख्या शहरी इलाक़ों में रहती हैं और बाकी अपने गांवों और जंगलों में निवास करती हैं।

समूचे देश में लोगों तक जन सुविधाओं और उपभोगता वस्तुएं पहुंची है पर अभी भी जो वंचित हैं उनकी संख्या भी कम नहीं है।

जनगणना के पहले दौर में जब हाऊस लिस्टिंग हो रही थी उसी दौरान हर एक परिवार में इस्तेमाल हो रही कई सुविधाओं और वस्तुओं की भी जानकारी ली गई थी। इस लेख में चर्चा के लिए उन में से दो सुविधाओं को चुना गया है। घर में शौचालय की उपलब्धता और घर में रसोईघर और रसोईघर में खाना पकाने और घर की अन्य ईंधन आधारित ज़रूरतों के लिए किस प्रकार का ईंधन प्रयोग में लाया जाता है।

**आमतौर पर किसी भी परिवार में शौचालय और रसोईघर बहुत महत्वपूर्ण होता है। किसी भी घर में ढेर सारी जरूरतें होती हैं जिनकी पूर्ती सुरक्षित और सरल तरीके से होने पर घर की महिलाओं और किशोरियों की ज़िंदगियों में और आगे बढ़ने के अवसरों को हासिल कर पाने की योग्यता पर सीधा प्रभाव पड़ता है। घर के अन्दर शौचालय नहीं होने से महिलाओं और बालिकाओं के स्वास्थ्य और सुरक्षा पर कई तरह प्रभाव पड़ता है।**

आमतौर पर किसी भी परिवार में शौचालय और रसोईघर बहुत महत्वपूर्ण होता है। किसी भी घर में ढेर सारी जरूरतें होती हैं जिनकी पूर्ती सुरक्षित और सरल तरीके से होने पर घर की महिलाओं और किशोरियों की ज़िंदगियों में और आगे बढ़ने के अवसरों को हासिल कर पाने की योग्यता पर सीधा प्रभाव पड़ता है। घर के अन्दर शौचालय नहीं होने से महिलाओं और बालिकाओं के स्वास्थ्य और सुरक्षा पर कई तरह प्रभाव पड़ता है। विकास के तमाम दावों के बाद आज भी जनजातीय परिवारों में शौच जाने को खेत जाना बाहर जाना या जंगल जाना ही कहते हैं क्योंकि शौच के लिये उन्हें घरों से बाहर जाना पड़ता हैं।

शौच के लिये घरों से बाहर जाने के लिये अच्छा प्रयास यह होता है कि एक से अधिक महिलाएं और बालिकाएं साथ बाहर जाएं। जंगल के पेड़ और झाड़ कट रहे हैं जिसकी वजह से उन्हें अब घर के, आबादी से काफी दूर जाना पड़ता है जिसमें अनेक खतरें होते हैं। यहां इनका वास्ता जंगली जानवरों और हिंसक लोगों से पड़ता है साथ ही वक्त बे वक्त अगर जरूरत पड़े तो निकलना मुश्किल होता है, जिसका निजी स्वच्छता एवं सेहत पर गहरा दुष्प्रभाव पड़ता है।

इन आंकड़ों से यह भी मालूम पड़ता है कि सरकार की योजनाओं और प्रयासों का अनुसूचित जनजाति लोगों के खास कर महिलाओं की रोजमर्रा की ज़िन्दगी पर बहुत ज्यादा प्रभाव नहीं पड़ा है। महिलाओं और बच्चियों को प्राकृतिक एवं स्वाभाविक जरूरतों के लिए भी समय और समाज के अनुसार हीं कार्य करना पड़ता है। यह तो एक तरह से मूलभूत अधिकारों का उल्लंघन तथा उनसे वंचित होने की स्थिति है।

52,82,533 जनजातीय परिवारों के घरों में शौचालय की सुविधा है। 31,80,726 परिवार ग्रामीण क्षेत्र में हैं जिनके घरों में शौचालय है, शेष 21,01,807 नागरीय घरों में भी यह सुविधा उपलब्ध है।

ऐसे 1,80,46,572 परिवार हैं जिनके पास घर के प्रांगण में शौचालय की व्यवस्था नहीं है। 1, 69,61,708 ग्रामीण परिवारों के घरों में यह सुविधा नहीं हैं, और सिर्फ 10,84,884 शहरी घरों में शौचालय नहीं है। अतः

1,80,46,572 जनजातिय परिवारों के पास यह सुविधा नही हैं। जिन परिवारों के पास यह सुविधा नहीं है उनमें से 3,83,114 ग्रामीण परिवार और 2,53,171 शहरी परिवार सार्वजनिक सुविधाओं का इस्तेमाल करते हैं। शेष बचे लोग खुली जगहों का शौच के लिए प्रयोग करते हैं। आज की तारीख में भी इंसान से शौचालय साफ़ करवाने की बात सामने आई है, और उसके लिए आकड़े बोल रहे हैं कि 32,920 घरों को साफ रखने की जिम्मेदारी स्त्रियों एवं पुरुषों पर है, जो दूसरों के मलों को साफ करतें हैं।

किसी भी परिवार में ज्यादा समय भोजन पकाने की व्यवस्था करने और पकाने में लगता है। पीने के पानी के स्रोत भी ज्यादातर घरों के बाहर ही होते हैं। इस की ज्यादातर जिम्मेदारी घर की महिलाओं और बालिकाओं पर ही होती है।

1,12,62,206 ऐसे परिवार हैं जिनके घरों में रसोई घर है और मात्र 12 प्रतिशत अनुसूचित जनजाति परिवारों में घुआंरहित साधन से घरों के चूल्हे जलते हैं। इनमें से 87.50 प्रतिशत लोग ऐसे ईंधन का इस्तेमाल करते हैं जिनमें से धुआं निकलता है।

धूम्र और धूम्र रहित ईंधन के प्रयोग में फ़र्क के बहुत सारे कारण है, जिन घरों में रसोई घर है और धूम्र रहित चूल्हा इस्तेमाल करते हैं वो अनुमानतः शहरी क्षेत्रों में होंगें या नए घर बने होंगें।

धुएं वाले चूल्हे के लिए ईंधन को चुनने और जमा करने या बनाने में महिलाओं और बालिकाओं को बहुत समय और मेहनत करनी पड़ती है। साथ ही साथ स्वास्थ्य सुरक्षा की चिंता बनी रहती है। इन सारी अवयवस्थाओं का असर महिलाओं और खासकर बच्चियों के समय, काम की क्षमता और पढ़ाई पर पड़ता है।

इसी प्रकार अधिकांश समाज में पेयजल की व्यवस्था की जिम्मेदारी भी महिलाओं और बालिकाओं की होती है। आंकड़े बताते हैं कि देश में पेयजल के लिए लोगों को ज्यादा प्रयास करने पड़ते हैं क्योंकि सिर्फ 46.6 प्रतिशत के पास घर के हाते में और 35.8 प्रतिशत आबादी के पास घर से थोड़ी ही दूर पर पेयजल उपलब्ध हैं। परंतु 17.6 प्रतिशत लोगों को पानी के लिए दूर जाना पड़ता है। अनुसूचित जनजाति समूहों में सिर्फ़ 19.7 प्रतिशत घरों के अंदर और 46.7 प्रतिशत घर के नजदीक पानी की व्यवस्था है। 33.6 प्रतिशत परिवारों को दूर स्थित पानी स्रोत से पानी लाना पड़ता है। आज भी कुल 2,33,29,105 परिवारों को पीने के पानी की सुविधा के लिये अभी थोड़ा और इंतजार करना पड़ेगा। इसके लिए अपने गाँव और पंचायत की योजना बनाने और कार्यान्वित करने में इन्हें साझेदारी करनी होगी।

उपर्युक्त आंकड़ें पूरे देश की जनजातिय समूह के लिए है। इसमें हर राज्य की अपनी अलग स्थिति है। इसके विशलेषण के लिए लेख को काफी है जोकि यहां मुमकिन नही है। यह सिर्फ़ जनजातियों के पूरे समूह की हीं बात नहीं है पर विशेषकर महिलाओं के वर्तमान और बच्चियों के भविष्य का सवाल है। जैसे कि अन्य समुदायों के साथ की गई टाइम स्टडीज दिखाती है। महिलाओं और बालिकाओं का अधिकतर समय घरेलू भूमिकाओं को निभाने में बितता है। खासकर घर के सदस्यों की देखभाल और रसोई अपेक्षित कामों में बितता है। इससे संबंधित कारणों से बालिकाओं का पाठशाला जाना या अनियमित हो जाना कोई बड़ी बात नहीं हैं, नतीजतन उनका पाठशाला जाना बंद हो जाता है। साथ–साथ ही असुरक्षा की संभावनाएं भी बढ़ जाती हैं। इन सुविधाओं की सहूलियत न मिलने कारण बच्चियों और महिलाओं को अपनी प्रतिभा और क्षमताओं के विकास का अवसर नहीं मिला पाता और अगर मिलता भी है तो वे समय के अभाव में पूरी तरह से उनमें तल्लीन नहीं हो पाती हैं।

यह बात साफ़ है कि देश के नागरिकों के लिए आधारभूत ज़रूरी सुविधाएं लोगों तक पहुंचने की प्रक्रिया शुरू तो हो गयीं है, पर बहुत ही धीमी है। जनजाति बाहुल्य प्रदेशों में यह सुविधाएँ कछुए की गति से प्राप्त हो रही हैं। कारण कई हो सकते हैं। कठिन भूगोल और रास्ते यात्रा प्रमुख हो सकते हैं कारण कोई भी और कितने भी हों पर मूलभूत सुविधाओं के न होने से महिलाओं और बच्चियों की जिन्दगी बिमारी और कठिनाइयों से घिरी और अवसर विहीन हो जाती है।

अब आंकड़ें सामने है। देश की पूरी जनसंख्या और परिवारों की स्थिति की तस्वीर उभर रही है। जनगणना के पहले दौर में जो सूचना संकलित की गयी है उसका उद्देश्य रहा है कि देश की जनता के लिए योजनाएं सटीक तरीके से बने और हर समुदाय विशेषकर अनुसूचित जनजाति समुदाय के सभी लोग खासकर महिलाएं और बालिकाएं न सिर्फ़ ज़िंदगी जीने की जद्दोजहद में स्वाहा हों अपितु अपने जीवन की संभावनाओं और स्वप्नों कों पूरा करें। ❑

**(लेखिका तारा हयूमन डेवलपमेंट एंड फैसिलिटेशन कंसल्टेंटस (प्रा.) लिमिटेड की निदेशक हैं। ई–मेल:joyinethiopia@gmail.com)**

## अपने लेख हमें ई–मेल करें

**आप हमें अपने लेख और पत्र ई–मेल भी कर सकते हैं। ई–मेल करने के लिए क्रुतिदेव फांट इस्तेमाल करें और वर्ड ओपन फाईल पर भेजें। एक से अधिक लेखकों के नाम केवल विशेष शोध लेखों पर ही दें। जिन रचनाओं के साथ मौलिकता का प्रमाणपत्र संलग्न नहीं होगा वे स्वीकार नहीं की जा सकेगी। रचना के प्रकाशन के संबंध में किसी प्रकार का पत्र–व्यवहार अथवा फोन न करें। विशेष अवसरों के लिए लेख तीन माह पूर्व प्राप्त हो जाने चाहिए। रचनाओं के साथ यथासंभव प्रासंगिक चित्र भी भेजें। डाक से भेजे जाने वाले लेखों की एक प्रति सीडी में भी भेजें। वापसी के लिए कृपया टिकट लगा और पता लिखा लिफाफा संलग्न करें।**

**– वरिष्ठ संपादक**

# परिवर्तन के लिए सांस्कृतिक क्रांति का प्रभाव आवश्यक

• अनिल चमड़िया

भारतीय संसदीय व्यवस्था में समाज के विभिन्न जातीय समूहों के लिए प्रतिनिधित्व सुनिश्चित की गई है। जाति समूह आधारित प्रतिनिधित्व को सुनिश्चित करने का मुख्य कारण यह रहा है कि भारतीय समाज व्यवस्था में जाति ही आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक विकास का आधार रहा है। संसदीय लोकतंत्र की प्रणाली को स्वीकार करते हुए यह तय किया गया कि मुख्यतः तीन समूहों के आधार पर लोकसभा और विधानसभाओं के गठन से वंचित समूहों के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक आधार को विकसित कर एक समान हालात में लाने में मदद मिलेगी। ये वंचित समूह अनुसूचित जाति और जनजाति के नाम से जाने जाते हैं जबकि लोकप्रिय भाषा में दलित और आदिवासी से उनकी पहचान की जाती है।

यह एक विरोधाभासपूर्ण स्थिति है कि विधायिका में दो वंचित समूहों की संख्या सुनिश्चित है जबकि उनके अलावा दूसरे जाति समूहों के लिए प्रतिनिधित्व को आरक्षण के प्रावधान से सुनिश्चित नहीं किया गया है। लेकिन बावजूद इसके वंचित वर्गों के हालात बदतर हैं। खासतौर से आदिवासियों के हालात को लेकर लगातार चिंता जाहिर की जा रही है। यही नहीं इस संसदीय प्रतिनिधित्व प्रणाली के तहत लोकसभा में आदिवासी प्रतिनिधियों की तादात 41 से बढ़कर 2009 में 47 हो गई। अब यहां दो तरह के सवाल खड़े किए जा सकते हैं। पहला, क्या वंचित वर्गों के लिए प्रतिनिधित्व की संख्या का सुनिश्चित होना ही संसदीय प्रणाली में पर्याप्त नहीं है, क्योंकि वंचित वर्गों का प्रतिनिधि अपने जाति समूहों के लिए संसदीय प्रणाली का इस्तेमाल दूसरे वर्गों के प्रतिनिधित्व के अनुरूप करने में सक्षम नहीं हो पाता है। दूसरा सवाल यह हो सकता है कि क्या वंचित वर्गों का प्रतिनिधित्व वंचित वर्गो के अपेक्षाओं की कसौटी पर खरा नहीं उतरता है और उस प्रतिनिधित्व का इस्तेमाल राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्तर पर विकसित वर्गों के प्रतिनिधित्व समूहों द्वारा कर लिया जाता है?

बुनियादी सवाल की तरफ से पहले आदिवासी समूहों की संख्या की तरफ देखना होगा क्योंकि संसदीय लोकतंत्र में मतदाताओं की संख्या के साथ–साथ मतदाताओं के संगठित होने की क्षमता और उनकी आर्थिक, सामाजिक हैसियत बेहद महत्वपूर्ण होती है। संख्या के आधार पर देखें तो कई ऐसी जातियां हैं जो संख्या में बेहद कम हैं लेकिन उनकी राजनीतिक हैसियत बहुत है क्योंकि जिस भूगोल में संगठित है और उनकी जो आर्थिक, सामाजिक ताक़त है वह संख्या के मुक़ाबले कई गुना ज्यादा है। लिहाजा केवल मतों की संख्या ही महत्पूर्ण नहीं होती है। वैसे भी आदिवासियों को संख्या के तौर भी देखें तो यह लगभग दस करोड़ की आबादी 698 समूहों में विभाजित है। दूसरा जिन राज्यों में मसलन मिज़ोरम, नगालैंड, अरुणाचल प्रदेश, मणिपुर और त्रिपुरा में सर्वाधिक जनसंख्या है। पूर्वोत्तर के राज्यों के अलावा केवल छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश, ओडिशा और झारखंड हीं ऐसे राज्य है जहां आदिवासी संख्या 20 से 30 प्रतिशत तक है। दूसरी दृष्टि यह हो सकती है कि पंजाब, हरियाणा, दिल्ली, उत्तर प्रदेश और बिहार को देंखें तो आदिवासियों की संख्या लगभग नदारद मानी जाती है जबकि इन प्रदेशों का राजनीतिक प्रतिनिधित्व संसदीय राजनीति में निर्णायक भूमिका अदा करता है। यह हालात भी आदिवासी प्रतिनिधित्व की एक राजनीतिक हैसियत बनने नहीं देता है। लिहाजा आदिवासी प्रतिनिधित्व कई तरह के सवालों से घिरा रहता है। आदिवासी उम्मीदवारों की तरफ जनता का ध्यान आकर्षित करने के लिए निर्वाचन क्षेत्रों का आरक्षण तथा इसी तरीकों से निम्न जातियों के बीच एक तरह का फर्क़ पैदा किया जाता है। दलितों व आदिवासियों को दी जाने वाली यह विशिष्ठ प्राथमिकता, धन व सत्ता का एक पैमाना निर्मित कर देती है। यह थोड़े से व्यक्तियों के लिए होती है और विशाल बहुमत अपनी ज़रूरतों के प्रति इस राजनीतिक प्रणाली व व्यवस्था को गैर ज़िम्मेदार मानने लगते हैं।

यहां फिर से दो तरह के सवाल खड़े होते हैं। पहला सवाल तो यह है कि क्या प्रतिनिधित्व वाले संसदीय प्रणाली में वंचित वर्गों के बीच विकास की प्रक्रिया दूसरे तरीक़े से नहीं चलाई जा सकती है? इस तरह व्यवस्था में एक छोटे से समूह के विकास के जो पैमाने निर्धारित होते हैं उस दौर में उसकी कतार (पैमाने के) में खड़ा किया जा सकता है? दूसरा यह कि भारतीय समाज और राजनीतिक तौर पर एक राष्ट्र के रूप में क्या अभी तक वंचित समूहों के विकास

और उन्हें समानता के स्तर पर लाने का मन तैयार करने में थोड़ी–बहुत भी सफलता हम हासिल नहीं कर पाए हैं? क्योंकि यह बात भी बहुत स्पष्ट है कि इस समाज में वंचित वर्गों के सदस्य केवल उन्ही क्षेत्रों से अपना प्रतिनिधित्व चुने जा सकते हैं जो उनके लिए सुरक्षित हैं। यदि यह सवैंधानिक बाध्यता न हो तो वंचित वर्गों के प्रतिनिधियों का किसी भी क्षेत्र से चुना जाना संभव नहीं हो सकता है। यह तथ्य के रूप में भी देखने को मिलता है कि अपवाद को छोड़कर गैर आरक्षित क्षेत्रों से वंचित वर्ग के प्रतिनिधि चुनकर नहीं आ पाते हैं, यदि उन्होंने ऐसी कोशिश की भी है तो। यानी संसदीय प्रणाली में कानून एवं सवैंधानिक व्यवस्थाएं ही वंचित वर्गों के राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक विकास के आधार के रूप में मौजूद है। लेकिन संसदीय लोकतंत्र को एक जीवंत और गतिमान प्रणाली के तौर पर प्रस्तुत किया जाता है और यह जीवंतता और गति बनाए रखना केवल कानूनी एव सवैंधानिक व्यवस्थाओं द्वारा संभव नहीं है। यहां के समाज के सदस्यों का मन मिजाज नहीं बदले केवल कानूनों के ढेर बना दिए जाए तो जाहिर–सी बात है कि सामाजिक स्तर पर हम समतामूलक व्यवस्था निर्माण करने में सफल नहीं हो सकते हैं। यह विरोधाभास भी है कि संसद में कानून तो बन जाता है लेकिन समाज में स्थितियां नहीं बदलती हैं। सामाजिक और राजनीतिक अगों का यह विरोधाभास भारतीय समाज में गतिरोध बनाए हुए है। इस गतिरोध का परिणाम यह होता है कि हम जितना विकास कर सकते हैं, उस क्षमता का दोहन नहीं कर पाते है और अपनी निर्भरता दूसरे पर बनाए रखने की विचारधारा से ग्रसित हो जाते हैं। यही नहीं प्रतिनिधित्व की व्यवस्था वंचित वर्गों के लिए भी नाकाम दिखती है। वंचित वर्गों का प्रतिनिधित्व भारतीय समाज में जिस रूप में प्रस्तुत किया जाता है उसके बारे में कहने की ज़रूरत नहीं है। यह समाज की विद्रुपताओं में से एक है।

दरअसल, वंचित वर्गों को लेकर एक विरोधाभास की स्थिति समाज में बनी हुई है। उन्हें इतिहास में तो गौरवांवित करके प्रस्तुत किया जाता है लेकिन प्रांसगिक काल में उन्हें हमेशा उपेक्षित नज़रिये से प्रस्तुत किया जाता है। इस दोहरी मानसिकता को समझना जरूरी है। अग्रेज़ों की सत्ता के खिलाफ़ आंदोलनों के इतिहास से हमारे आधुनिक राष्ट्रवाद का मानस तैयार होता है। उन्ही आंदोलनों में आदिवासियों के विद्रोह से दुनिया अंजान नहीं है। जब माओवाद नहीं था तब भी बिरसा मुंडा, सिद्धू–कान्हू तिलका मांझी की एक लंबी परंपरा दिखाई देती है। वे अग्रेज़ों के खिलाफ थे क्योंकि वे उनके ज़ंगल ज़मीन और ज़िंदगी में अपना दखल रखना चाहते थे। उनके लिए यह वरोधी युद्ध जैसा था। भारत में माओवाद को एक राजनीतिक संघर्ष का वैचारिक माध्यम बनाने से पहले तेलगांना और विभाजित बंगाल का तिभागा आंदोलन आदिवासी असंतोष की राजनीतिक लड़ाई थी। जिस झारखंड में माओवाद और नक्सलवाद का प्रभाव बताया जाता है वहां पश्चिम बंगाल के नक्सलबाड़ी में विद्रोह से पहले आदिवासियों के आंदोलनों की एक लंबी कड़ी रही है। हम सकते हैं कि आदिवासियों को वंचना की सिथति से दूर करने में नाकामी को स्वीकार करने के बजाय उनके आंदोलनों को ही कटघरें में खड़ा किया जाता है। अग्रेज़ों ने उनके विद्रोह को कटघरें में खड़ा किया । जब झारखंड आंदोलन चल रहा था तब उसे राष्ट्र आंदोलन के रूप में पेश किया जा रहा था। कोई भी ऐसा काल नहीं है जब वंचितों के आंदोलनों को सत्ता द्वारा सही संदर्भों में स्वीकार किया गया हो और वंचितों को वंचना की स्थिति से निकलने में मदद की गई हो। आदिवासियों के लिए भी अभी तक का लोकतंत्र समाज के प्रभुत्वशाली वर्ग के वर्चस्व को बनाए रखने तक ही सीमित है। यह कहा जाए कि दलितों की मुक्ति के लिए जितने भी विचारधाराएं विकसित हुईं उस पर समाज के वर्चस्वशाली समूहों ने कब्जा कर लिया है। जब समाज के राजनीतिक हालात ऐसे हों तो उस सत्ता के किसी भी तंत्र से उम्मीद नहीं की जा सकती है कि वह दलितों के दमन को कायम रखने की सेना के रूप में काम नहीं करती होगी। कई बार लगता है कि मौजूदा सरकारों के लिए समस्या यह नही हैं कि आदिवासियों के हालात बदतर हुए हैं। वह आदिवासियों के बीच महज माओवादी विचारधारा के विस्तार से परेशान हैं। किसी भी राजनीतिक समाज में किसी भी जातीय समूह या तबके के पास अपनी स्थिति में परिवर्तन लाने के लिए क्या रास्ते बचते हैं? वह अपने सामने मौजूद विभिन्न राजनीतिक विकल्पों में से एक का चुनाव करता है। यदि सचमुच लोकतंत्र की स्थापना का इरादा है तो सरकार की चिंता का पहलू यह होना चाहिए कि भरोसा खोने के उसके मामले में इस क़दर इज़ाफा क्यों हो रहा है। विभिन्न राज्यों की सरकारें आखिर आदिवासियों को पुलिस और सैन्य दस्ते में ही भेजने की योजना पर सबसे ज्यादा जोर क्यों दे रही है जबकि आदिवासियों को दूसरे क्षेत्र में संवैधानिक आधार प्राप्त है। उनका पालन हो यह सुनिश्चित करने का तंत्र विकसित होना चाहिए। विभिन्न सरकारी दफ्तरों में आदिवासियों के लिए आरक्षित सीटें खाली पड़ी हैं। उनके विकास के लिए जो अवसर देने का सरकार दावा करती है वे अवसर भी दिए जा रहे हैं। लेकिन सरकार चाहे किसी पार्टी की हो आदिवासियों को हथियार थमाने के मामले में सबकी सोच एक जैसी ही है। क्या समाज का जो निर्धन और शोषित तबका है, उसे यह मानकर चलना चाहिए कि जब तक उसकी एक पीढ़ी सेना और पुलिस में रहकर अपने बीच के विद्रोह को दबाने में सहायक नहीं होती है तब तक उन्हें समाज़ में समानता के अधिकार पर विकसित होने का अधिकार नही मिल सकता हैं? दरअसल, वंचित वर्गों की सदस्यता में भागीदारी के जरिये हिस्सेदारी की प्रणाली समाज में वर्चस्व रखने वाले समूहों के मन मिजाज के भीतर सांस्कृतिक क्रांति का प्रभाव पैदा करके ही सफल बनाई जा सकती है।

❐

**(लेखक मासिक शोध पत्रिका जन मीडिया के संपादक और मीडिया स्टडीज ग्रुप के अध्यक्ष है। ई–मेलः** namwale@gmail.com**)**

# झारखंड की जनजातियां

• मधुकर

झारखंड की जनजाति को विकास का उतना लाभ नहीं मिला, जितना धन उन पर ख़र्च हुआ। जनजाति और आदिम जनजाति की सोच और दृष्टि के मुताबिक विकास नहीं करना इसका प्रमुख कारण हो सकता है। हमने अपनी मुख्यधारा में उन्हें जोड़ने की बहुत कोशिश की लेकिन कोई सकारात्मक परिणाम नहीं निकला। आदिम जनजाति विलुप्त होती जा रही हैं। वह भी तब जबकि इनके विकास, संरक्षण और संवर्धन के लिये तमाम कार्यक्रम बनाये जा रहे हैं। चंद अपवाद को छोड़ दें तो आदिम जनजातियां पहले से भी ज्यादा बदहाल हैं। और ज्यादा तेज़ी से विलुप्त होने के कगार पर हैं।

दरअसल, ये जनजातियां पूरी तरह कृषि और जंगलों पर निर्भर रही हैं परंतु आज जंगल उजड़ रहे हैं। कभी कारखानो के लिए तो कभी खनन कार्यों के लिए जंगल काटें जा रहे हैं। परिणामतः आदिम जनजातियां जंगल से बाहर हो रही हैं और मुख्यधारा के कथित समाज के साथ तालमेल नहीं बिठा पा रही हैं। अब विलुप्त हो रही जनजातियों और आदिम जनजातियों को बचाने के लिए झारखंड के आधे हिस्से को पांचवीं अनुसूची में रखा गया। 260 विकास प्रखंडों में से 112 विकास प्रखंड पांचवी अनुसूची में रखे गए है। इसलिए राज्य और केंद्र सरकार इनके विकास के लिए जनजाति उपयोजना बना रही है। केन्द्र सरकार इस काम के लिए अतिरिक्त धन की व्यवस्था कर रही है। बावजूद इसके सबसे ज्यादा बेघर और बदहाल आदिम जनजातियां ही हैं।

झारखंड में असुर, बिरहोर, बिरिजिया, कोरबा, माल पहाड़िया, सौरिया पहाड़िया और सावर को आदिम जनजातियों की श्रेणी में अनुसूचित किया गया है। रांची, लोहरदगा, गुमला, सिमडेगा, गया, पूर्वी और पश्चिमी सिहंभूम, सरायकेला–खरसांवा, दुमका, जामतारा, साहेबगंज, पांकुड़, गोंडा और लातेहार जिले पांचवीं अनुसूची में हैं। इसके अतिरिक्त भी कुछ जिलों के कुछ हिस्से पांचवीं अनुसूची में आते हैं।

आदिम जनजातियों की 95 फीसदी से ज्यादा आबादी आज भी शिक्षा से वंचित हैं। इनके मुहल्ले, गांव में मैट्रिक पास युवक युवतियां खोजने पर भी नहीं मिलते। वैसे सर्व शिक्षा अभियान के कार्यक्रम चल रहे हैं। संविधान से प्रदत अधिकार से वे वोट देने के अधिकारी हैं, परंतु इनमें से बमुश्किल ही कोई वोट देने जाते हैं। बिरिजिया, असुर और कोरबा हुनर वाली जनजातियां है परंतु गांव में जब कारखानों में बने सामान सस्ते क़ीमत पर पहुंचने लगे तब इनकी जरूरत खत्म हो गयीं। लोहे से अनेक तरह के वस्तुएं बनाने वाली ये जातियां अब हाशिये पर हैं। पास के जंगल से छोटे–मोटे शिकार और शराब ही अब इनका जीवन है।

पहाड़िया आदिम जनजाति 400 साल पहले राजा हुआ करती थी। संताल परगना में इनका राज चलता था। लेकिन अंग्रेजों ने इस लड़ाकू जनजाति को यहां से खदेड़कर पहाड़ पर पहुंचा दिया। खतियान में राज्य सरकार के दस्तावेजों के अनुसार पहाड़ियां इनकी है। लेकिन उन पहाड़ियों के पत्थर दूसरे लोग तोड़कर अरबपति हो गए। और ये भूमिहीन बनते जा रहे हैं। गैर कानूनी ढंग से इनकी ज़मीनें लीज पर लेकर दूसरे लोग पत्थर तोड़ते हैं और इन्हें बदले में मिलता है दारू की बोतल और कुछ हज़ार रुपये। परिणामस्वरूप सबसे अधिक अशिक्षित, कुपोषित, कम वजन के बच्चे, पुरुष–महिलाएं आदिम जनजातियों में हीं हैं। सबसे अधिक मृत्युदर भी इन्हीं का है।

संविधान के अनुच्छेद 275– एक के अनुसार केंद्र सरकार अनुसूचित जनजाति और आदिम जनजाति के विकास के लिए अतितिक्त धन देती है। इन्हें 35 किलो अन्न हर माह मुफ्त मिलता है। जनगणना की रिपोर्ट के अनुसार झारखंड में सबसे अधिक जनजातियां साहेबगंज (35129), दुमका (31550) और सबसे कम धनबाद (137) और गिरिडीह में (258) हैं। इसके अलावा झारखंड के विभिन्न जिलों में जंगल और पहाड़ियों के आसपास छोटी–मोटी आबादी के रूप में बसे हुए हैं। संतालपरगना में पहाड़ियां दिवाकालीन विद्यालय, पहाड़िया वोकेशनल सेंटर, पहाड़ियां हेल्थ सेंटर खोले गए हैं। केंद्र और राज्य सरकारों ने इनकी सीधी बहाली की घोषणा कर रखी है लेकिन मैट्रिक पास युवक सीधी बहाली के लिए कई बार पिछले सालों में राजधानी में धरना दे चुके हैं।

आदिम जनजातियों की इच्छा, जरूरत और उनकी गति से जब तक विकास नहीं तय किया जायेगा, और जब तक उनके द्वारा ही विकास विकास कार्य नहीं करवाया जाएगा तब तक विकास की राशि बिचौलिये खाते रहेंगे और यह माना जाता रहेगा कि उनका विकास किया जा रहा है। उन्हें सोलर लालटेन दिये गए। पढ़ने, लिखने, गाने बजाने और खेती के लिए कृषि उपकरण दिये गए लेकिन सब कुछ दूसरे लोग औने–पौने दाम में उनसे खरीद लिये।

छोटानागपुर काश्तकारी अधिनियम और संतालपरगना काश्तकारी अधिनियम के तहत जमीन पर इनके अधिकार को कायम करते हुए इनके खेतों तक अगर पानी की व्यवस्था कर दी जाए तो विलुप्त होती आदिम जनजातियों को बचाया जा सकता है। उन्हें उनकी गति से ही उनके इच्छा के अनुरूप विकसित करने की जरूरतें है इसके बगैर उनका विकास सिर्फ़ कागज़ों पर होता रहेगा।

## आदिम जनजातियों की दशा

झारखंड में आदिम जनजातियों के विकास के लिए जो धनराशि आती है उसके अधिकांश भाग का उपयोग नहीं हो पाता है और उस धनराशि को वापस करने की नौबत आ जाती है। सरकार कभी इस मुद्दे की समीक्षा नहीं करती। जनजातियों के संरक्षण और विकास कार्यक्रम में 2011–12 में 5.01 करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई थी। लेकिन गोड्डा, गुमला, कोडरमा, लातेहार, पाकुड़, सरायकेला, सिमडेगा, दुमका, पश्चिमी सिंहभूम और गढ़वा जिले ने पूरी की पूरी राशि उपयोग में न ला पाने की वजह से वापस कर दी। यहां यह उल्लेख करना जरूरी है कि इन जिलों में आदिम जनजाति सबसे अधिक संख्या में हैं। संथाल परगना कमिशनरी में छह जिले हैं। इस जिले से अब तक तीन मुख्यमंत्री बन चुके हैं। शिबू सोरेन, बाबूलाल मरांडी और हेमंत सोरेन। बावजूद इसके इन जिलों में आदिम जनजातियां हाशिये पर हैं। जब भी विकास और योजना की बात होती है, तो उसमें समाज की मुख्यधारा से जुड़ चुकी कुछ जनजातियां मसलन मुंडा, उरांव और होरो वगैरह को ही ध्यान में रखा जाता है। जनजातियों के लिए योजना केवल खानापूर्ति के लिए बनती है। उनके लिए योजनाओं के कार्यान्वयन का जिम्मा खासकर स्वास्थ्य के मामलों का रामकृष्ण मिशन और भारत सेवा आश्रम को दिया गया है, लेकिन ये दोनों गैर सरकारी संस्थान इन इलाक़ों में आदिम जनजातियों के स्वास्थ्य रक्षा कितनी कर रहे हैं, कभी इसकी समीक्षा नहीं हुई। आज भी इन जनजातियों के लोग खेतों में बने चुंआ (एक चार–पांच फीट का गढ्ढा, जिसमें पानी टपकता रहता है) से पानी पीते हैं। खेतों में खाद्य के लिए बैल के साथ–साथ सुअर का भी गोबर डाल दिया जाता है। कुछ लोग उर्वरक का भी प्रयोग करते हैं। इस वजह से खेत के उस गढ्ढे में जमा होनेवाला पानी कितना स्वास्थ्यवर्द्धक होता होगा, इसका अंदाजा लगाया जा सकता है। स्वच्छ पानी नहीं मिलने की वजह से इन आदिम जनजातियों का शायद ही कोई बच्चा होगा, जो कुपोषण का शिकार न हो। इन बच्चों में से अधिकांश के हाथ–पैर पतले हैं और पेट निकला हुआ है। वे आज भी अपनी बीमारियों को इलाज नीम हकीम और ओझा गुनी से ही कराने को विवश हैं। कतिपय अच्छे डॉक्टर हैं लेकिन पुनः वही पानी पीने की वजह से उस दवा का भी कोई असर नहीं होता। परिणाम स्वरूप सबके सब खून की कमी से ग्रसित हैं और कम वजन के हैं।

सीसीडी में उनके आर्थिक स्वावलंबन के लिए प्रशिक्षण देने, स्वयं सहायता समूह बनाने, स्वच्छ पेयजल, बिजली, स्वास्थ्य और आजीविका की व्यवस्था करना है। रामगढ़, खूंटी, पश्चिमी सिंहभूम, जामताड़ा और धनबाद में सीसीडी का पैसा हीं नहीं पहुंचा। इनके लिए जो सोलर लैंप बंटे, वे दूसरे लोग खरीद ले गये। रोज़गारपरक प्रशिक्षण एक भी नहीं हुआ, दरअसल, मुख्यधारा में जो विकास की परिकल्पना है और आदिम जनजातियों के बीच जो विकास की परिकल्पना है, इन दोनों के बीच भारी अंतर विरोध है। आदिम जनजातियों ने संचय करना नहीं सीखा। अभी भी रोज कमाते हैं, रोज खाते हैं। जिस दिन नहीं कमाते, उस दिन घर में चूल्हा नहीं जलता। इसके लिए उन्हें कोई अफ़सोस भी नहीं होता। शादी का उत्सव का मतलब मांस और दारू होता है। कोई भी उत्सव बगैर मांस–दारू के नहीं होता। अंधविश्वास की परिकाष्ठा यह है कि बीमारी होने पर पास–पड़ोस के लोग किसी महिला को डायन बता देते हैं और फिर झाड़–फूंक के लिए भी ओझा को दारू की बोतल और मांस चाहिए जिसकी व्यवस्था वे बर्तन भांड़े बेच कर करते हैं। कहने के लिए बहुत सारे स्वयंसेवी संगठन इनके बीच काम कर रहे हैं, लेकिन चंद अपवाद छोड़ दे तो काम का परिणाम सामने नहीं आता। इस राज्य का सबसे बड़ा दुर्भाग्य तो यह है कि आदिम जनजातियों के बीच सरकारी अफसर और कर्मचारी भी टिक कर काम नहीं करते। मुख्यधारा में विकास की जो चीजें हैं वे इन पर थोप दी जाती हैं। मसलन ट्रैक्टर, आधुनिक बीज, ज्यादा दूध देनेवाली गाय, उन्नत नस्ल की बकरी जिसे वे कुछ हफ्तों में ही बेच डालते हैं। उनके बीच रहकर उनका विकास करने की कभी किसी ने कोशिश नहीं की। एक तो उद्योग–धंधों ने इनसे लोहा बनाना, लोहे के कृषि उपकरण बनाना छीन लिया। नतीजन असुर, बिरिजिया और कोरबा बेरोज़गार हो गए। बिरहोरो के रस्से बंटने का काम प्लास्टिक की रस्सी ने छीन लिया। पहाड़िया कभी संथाल परगना के राजा हुआ करते थे, आज उनकी पहाड़ियां फर्जी कागज के लीज पर लेकर लोग अरबपति हो रहे हैं। संथाल परगना टेनेंसी एक्ट के तहत किसी भी जाति या समुदाय का व्यक्ति अपनी जमीन किसी को भी नहीं बेच सकता है। लेकिन इसके लिए लीज की खोज की गयी और खोज से पहाड़िया और अन्य जनजातियों की जमीन लेकर दूसरे लोग व्यवसाय करने लगे। अगर इन जनजातियों को विलुप्त होने से बचाना है, तो तत्काल इनके लिए कुछ कारगर योजनाएं बनानी होंगी। जो इनके बीच रहकर इनकी सोच को विकसित कर सके। इनके विकास में इसी समुदाय के लोगों को शामिल कर सके। ऐसे लोगों की तलाश करनी होगी। नहीं तो आनेवाले वर्षों में आदिम जनजातियां केवल संग्रहालय में ही देखने को मिलेंगी।

❑

**(लेखक ख़बर मंत्र में सलाहकार संपादक हैं।**
**ई मेल**–madhukarranchi@gmail.com)

# पूर्वोत्तर में जनजाति एवं वंचित वर्ग

• रजनीश मिश्र

भारत का पूर्वात्तर क्षेत्र अपने प्राकृतिक संसाधनों के साथ ही विविधतापूर्ण कला–संस्कृति के लिए प्रसिद्ध है, मगर जनजाति बहुल यह क्षेत्र असंतोष और आक्रोश के लिए हमेशा सुर्खियों में रहा है। इन सबके बीच यह कई मायनों में देश के अन्य राज्यों के लिए उदाहरण भी है। पूर्वात्तर राज्यों में सबसे अधिक जनजातियां मिजोरम में हैं, जहां कुल आबादी की 94.19 फीसदी जनजाति हैं। वहीं पूर्वोत्तर राज्यों में सबसे कम जनजातीय आबादी वाला राज्य असम है, जहां जनजाति आबादी कुल आबादी की महज 12.43 फीसदी है। जाहिर है जनजातियों के अस्तित्व से जुड़े आर्थिक अधिकारों के साथ उनकी भाषा और संस्कृति से जुड़े अस्मिता के अधिकार काफी अहम हैं, लेकिन यह बात गौर करने लायक है कि देश के अन्य हिस्सों के मुकाबले यहां ये ज्यादा सबल स्थिति में हैं। शिक्षा चूंकि आर्थिक और सामाजिक विकास का सोपान है। अतः जनजातियों के विकास में भी इसकी अहम भूमिका है। पूर्वोत्तर में जनजाति एवं वंचित वर्ग की मौजूदा स्थिति के विश्लेषण से पहले आइये एक नजर डालते हैं पूर्वोत्तर के आठों राज्यों में उनकी मौजूदगी पर। जनजाति विकास मंत्रालय के आंकड़ों के मुताबिक पूर्वोत्तर राज्यों में, असम में 12.42 फीसदी, अरुणाचल प्रदेश में 64.63 फीसदी, मेघालय में 86.43 फीसदी, मिजोरम में 94. 19 फीसदी, त्रिपुरा में 31.13 फीसदी, नगालैंड में 88.98 फीसदी, सिक्किम में 20.61 फीसदी, और मणिपुर में 38.96 फीसदी जनजाति आबादी बसती हैं।

जनजातियों के विकास और सरकार की नई नीति को लेकर जहां बहस का दौर जारी है, वहीं सरकार की ओर से जनजातियों की स्थिति के अध्ययन के लिए प्रोफेसर वर्जीनियस खाखा के नेतृत्व में एक समीति भी गठित कर दी गई है। ऐसे में सवाल यह उठता है कि आदिवासियों या जनजातियों के विकास का पैमाना आखिर क्या हो, जबकि उनकी अस्मिता और अस्तित्व की लड़ाई विभिन्न मोर्चे पर अब भी जारी है। उनके लिए सांस्कृतिक सुरक्षा देना ज्यादा जरूरी है या फिर आर्थिक। देश के मध्य और पश्चिमी प्रदेश में जनजाति समाज की लोकतांत्रिक गतिविधियां और उनके विकास पर यदि नज़र डालें तो यह पाएंगे कि देशभर में यदि कोई आदिवासी बहुल राज्य सुखद अनुभूति देता है तो वह पूर्वोत्तर के ही राज्य हैं, जो जनजाति बहुल राज्य हैं। मौजूदा दौर में जब इस बात पर चिंता जताई जा रही है कि पिछले दो दशकों में देश नें आर्थिक विकास तो किया, लेकिन उसका मानव विकास सूचकांक चिंताजनक स्थिति में है, ऐसे में मिजोरम के आंकड़े सुकून पहुंचाते हैं। मिजोरम में 94.4 प्रतिशत आबादी आदिवासियों है लेकिन विकास के मानवीय सूचकांक में मिजोरम कहीं भी पिछड़ता नहीं दिखता। मिजोरम में साक्षरता दर 91.58 प्रतिशत है जो केरल के बाद देश में दूसरे नंबर की है। यह राज्य शहरीकरण की गति के मामले में भी देश में दूसरे पायदान पर है। मिजोरम की प्रतिव्यक्ति आय पूर्वोत्तर राज्यों में सबसे ऊपर तो है ही, देश के कई गैर आदिवासी राज्यों से भी कहीं आगे है। यहां 78 प्रतिशत परिवार पक्के या आधे पक्के मकानों में रहते हैं। मिजोरम में बिजली की उपलब्धता 69.63 प्रतिशत है, जबकि राष्ट्रीय स्तर पर यह औसत महज 55.85 प्रतिशत है। शिशु मृत्युदर 19 प्रति हजार है जबकि राष्ट्रीय स्तर पर यह औसत 66 प्रति

हजार है। आश्चर्य की बात है कि मिजोरम ने यह तरक्की सड़क, रेल लाइन, जल विद्युत परियोजनाएं और पर्याप्त शिक्षण संस्थानों के अभाव में की है। जाहिर है तमाम खामियों के बीच यह प्रदर्शन सामुदायिक एकता के कारण संभव हुआ है। यहां हमार, चकमा, मरास और लाइस के साथ ब्रू आदिवासी के बीच तनाव और समय–समय पर उभरे मतभेद के बावजूद विकास के मामले में देश के अन्य राज्यों के लिए यह एक बेहतरीन उदाहरण प्रस्तुत करता है। यहीं नहीं, भारतीय भाषा अनुसंधान केंद्र के संस्थापक गणेश एन. देवी द्वारा हाल के भाषा सर्वेक्षण के खुलासे के मुताबिक भारत में एक हजार से ऊपर भाषाएं होती थीं, जिनमें से 230 भाषाएं मर गई और महज 770 भाषाएं बची है, मरने वाली इन भाषाओं में ज्यादातर आदिवासी भाषाएं हैं। ऐसे में साफ है कि पूर्वोत्तर की जनजातियां अपनी भाषा और संस्कृति को संरक्षित रख पाने में काफी हद तक सफल साबित हुई हैं। असम के विभाजन के बाद 23 जनजातियों में 14 पर्वतीय और 9 मैदानी जनजातियां रहीं। 14 पर्वतीय जनजातियां कार्बी आंग्लांग और उत्तर कछार में बसती हैं। पूर्वोत्तर के प्रवेश द्वार असम में संविधान के छठे अनुच्छेद के मुताबिक जिला परिषद के गठन की शुरुआत हुई। जिला परिषद का मकसद किसी विशेष जनजाति को उनकी भाषा, कला–संस्कृति के संरक्षण के साथ हीं उन्हें आर्थिक तौर पर मज़बूत करना था। इसी के तहत वर्ष 1993 में असम में बोडो स्वायत्तशासी परिषद का गठन किया गया। इसी के तर्ज़ पर बाद में तिया, राभा, मिसिंग, देउरी और सोनावाल कछारी स्वशाषी परिषद का गठन किया गया। इन स्वशाषी परिषदों के अधीन कुटीर उद्योग, शिक्षा, ग्रामीण सड़कें, समाज कल्याण, मछली पालन, पर्यटन और परिवहन के विभाग रखे गए। इस व्यवस्था के जरिये जनजातियों के विकास में मदद मिली और इससे इनकार नहीं किया जा सकता। हां कई जगहों पर यह भी बहस का मुद्दा बना कि जिस मकसद से परिषदों को गठन हुआ था, वह पूरा नहीं हो पाया, बल्कि कहीं न कहीं यह राजनीतिक हित साधने का जरिया बनता जा रहा है। खैर, यह बहस और पुनरीक्षण का मुद्दा है मगर इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि इसके जरिय संबंधित जनजातियों के संरक्षण में काफी हद तक मदद मिली है। वंचितों की यदि बात करें तो कई जनजातियां ऐसी है जिन्हें सरकार की ओर से अनुसूचित

**देश के मध्य और पश्चिमी प्रदेश में जनजाति समाज की लोकतांत्रिक गतिविधियां और उनके विकास पर यदि नज़र डालें तो यह पाएंगे कि देशभर में यदि कोई आदिवासी बहुल राज्य सुखद अनुभूति देता है तो वह पूर्वोत्तर के ही राज्य हैं, जो जनजाति बहुल राज्य हैं।**

जनजातियों में नहीं रखा गया है। कह सकते हैं इनमें मोरान, मटक, ताई अहोम, चाय जनजाति, आदि आती हैं।

त्रिपुरा की 19 बड़ी जनजातियों में त्रिपुरी जनजातियां, जयंतिया, रियांग, नोअतिया, कोलोई, मुरासिंह, चकमा,हलाम, गारो, कूकी, मिजो, मोघ, मुंडा, ओरांग, संथाल और उचोई प्रमुख हैं।

अरुणाचल प्रदेश में मोंपा, खाम्ती, आदी, अका, आपातानी, निशि, मिसमी, मिजी, नोक्टे जनजातियां निवास करती हैं।

नगालैंड में 16 मुख्य जनजातियां हैं। अंगामी, आओ, चाखेसांग, चांग, डिमासा कछारी, खियामनीउंगम, कोन्याक, लौथा, फोम, पोचुरी, रेंग्मा, सांग्तम, सूमी, कूकी और जिलियांग, जिमें कोन्याक, अंगामी, आओ, लोथा और सूमी बड़ी जनजातियां हैं।

मणिपुरः लुसाई–कूकी, खामती, आका, नगा, मिजो, मणिपुरी, बोड़ो, कार्बी, मिसिंग, खासी अहोम, नगा, मिजो, बोड़ो–कछारी, मिरी और देउरी ने पहले जनजातीय प्रतिनिधितव की मांग की थी।

गारो, खासी, जयंतिया मेघालय की प्रमुख जनजातियां हैं। मिजोरम में मिजो, लुसेई, गान्ते, पावी, लाखेर, मारा, रियांग और चकमा आदि जनजातियों का निवास करती हैं। एवं सिक्किम में लेपचा, लिंबू।

पूर्वोत्तर में जनजातियों की स्थिति पर जब बात करते हैं तो जाहिर तौर पर समग्र भारत में उनकी मौजूदगी और लोकतंत्र. में उनके अस्तित्व को लेकर कई सवाल भी खड़े होते हैं। एक आंकड़े के मुताबिक 2004 से 2009 के बीच आदिवासी वोटों का प्रतिशत गिरा हैं। सन 2004 में राष्ट्रीय स्तर पर आदिवासी मतदान का प्रतिशत इकसठ था जो 2009 में चार प्रतिशत घट कर संतावन पर आ गया जबकि 2009 का राष्ट्रीय औसत 58.3 और दलितों और अन्य पिछड़े वर्ग मतदान प्रतिशत क्रमशः 60.5 और 59. 9 था। उस दौरान हुए सीएसडीएस के सर्वेक्षणों का मानना है कि दूसरे तबकों के मुक़ाबले उन आदिवासियों की संख्या काफी कम थी जो मानती थी कि उनको लोकतांत्रिक अधिकार मिले हैं।

आदिवासियों की यह दशा निश्चित तौर पर व्यवस्था से उनकी नाराजगी की कहानी भी बयां करती है। तमाम उपायों के बीच यह समझने की जरूरत है कि लोकतंत्र में उनकी भागीदारी न केवल किसी क्षेत्र विशेष बल्कि पूरे देश में बढ़े और देश के समया विकास में उनकी भूमिका तेजी से सुनिश्चित हो। पूर्वोत्तर क्षेत्र की सबसे बड़ी समस्या उसकी भौगोलिक स्थिति और परिवहन के लिए संपर्क का अभाव है। बिना परिवहन की व्यवस्था को दुरूस्त किए विभिन्न मोर्चों पर एक साथ लक्ष्य हासिल कर पाना मुश्किल है। शिक्षा के जरिये उन क्षेत्रों से लोगों का देश के बड़े शहरों में विस्थापन भी हो रहा है और शिक्षा के नाम पर पलायन भी जारी है। जाहिर है इस मुद्दे पर भी गंभीर बहस समय की मांग है।

❐

**(लेखक गुवाहाटी स्थित टीवी पत्रकार हैं।**
**ई–मेलः** mishrarajneesh18@gmail.com)

प्रकाशक एवं मुद्रक : ईरा जोशी, अपर निदेशक (प्रमुख) द्वारा प्रकाशन विभाग के लिए इंटरनेशनल–प्रिंट–ओ–पैक लिमिटेड, बी 206, ओखला औद्योगिक क्षेत्र, फेस–1, नयी दिल्ली–110 020 से मुद्रित एवं प्रकाशन विभाग, सूचना भवन, सी.जी.ओ., कॉप्लेक्स, लोधी रोड, नयी दिल्ली–110 003 से प्रकाशित। वरिष्ठ संपादक : रेमी कुमारी

रजि.सं.डीएल (एस) -05/3231/2012-14
Reg. No. D.L.(S)-05/3231/2012-14 at RMS, Delhi
23 दिसंबर 2013 को प्रकाशित • 29-30 दिसंबर 2013 को डाक द्वारा जारी

Licenced under U (DN)-55/2012-14
आर.एन.आई. 951/57
R.N.I. 951/57


# संघ एवं राज्य सिविल सेवा परीक्षाओं के सामान्य अध्ययन हेतु अत्यन्त लाभदायक सामग्री.

## विभिन्न विश्वविद्यालयों के भारतीय अर्थव्यवस्था के प्रश्न-पत्र एवं अन्य परीक्षाओं के लिए भी उपयोगी.

नवीन संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण

Code No. 791

₹ 299/-

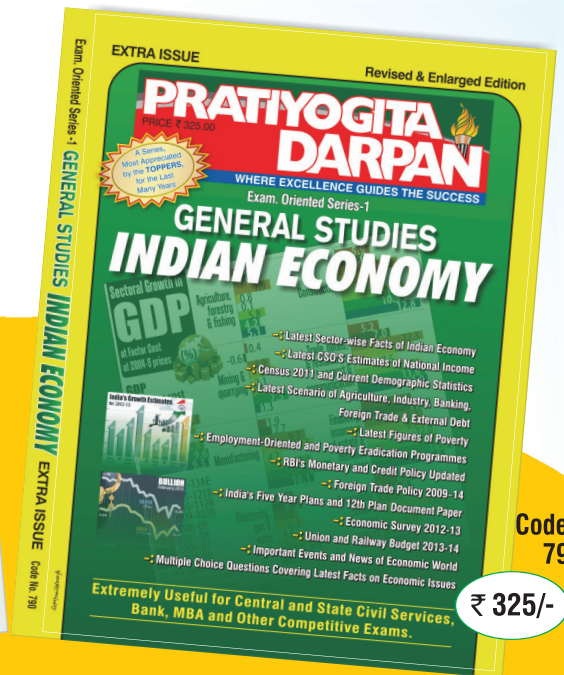


Code No. 790

₹ 325/-

## टॉपर्स की राय में...

मैंने अर्थव्यवस्था के अतिरिक्तांक का उपयोग समय के सदुपयोग के लिए किया.
—प्रियंका निरंजन
*सिविल सेवा परीक्षा, 2012 में हिन्दी माध्यम से द्वितीय स्थान*

मैंने अर्थव्यवस्था का अतिरिक्तांक पढ़ा है. यह अपने आप में बेजोड़ एवं तैयारी के क्रम में पठनीय अनिवार्य अंक है.
—विवेक अग्रवाल
*सिविल सेवा परीक्षा, 2011 में उच्च स्थान पर चयनित*

मैंने सामान्य अध्ययन की तैयारी में भारतीय अर्थव्यवस्था सहित अन्य अतिरिक्तांकों का उपयोग किया. ये सारगर्भित होते हैं.
—प्रवीण कुमार लक्षकार
*सिविल सेवा परीक्षा, 2011 में उच्च स्थान*

भारतीय अर्थव्यवस्था का अतिरिक्तांक बहुत उपयोगी है.
—अरविंद कुमार सिंह
*उ. प्र. पी.सी.एस. परीक्षा, 2010 में प्रथम स्थान*

## मुख्य आकर्षण

✸ भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषताएं ✸ महत्वपूर्ण आर्थिक शब्दावली ✸ भारत की जनगणना 2011 के अंतिम आँकड़े ✸ राष्ट्रीय आय, कृषि, उद्योग, मुद्रा, बैंकिंग, परिवहन, संचार, विदेशी व्यापार एवं विदेशी ऋण आदि के अद्यतन आँकड़े ✸ आर.बी.आई. की नवीन मौद्रिक एवं साख नीति ✸ 2013-14 का केन्द्रीय बजट एवं रेल बजट ✸ विदेशी व्यापार नीति 2009–14 ✸ भारत की विभिन्न पंचवर्षीय योजनाएं ✸ भारत में संचालित रोजगारपरक एवं निर्धनता निवारण कार्यक्रम ✸ सामयिक आर्थिक विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ ✸ महत्वपूर्ण बहुविकल्पीय प्रश्न.

To purchase online log on to **www.pdgroup.in**

अपने निकटतम पुस्तक विक्रेता से अपनी प्रति आज ही प्राप्त करें

**प्रतियोगिता दर्पण**
To purchase online log on to www.pdgroup.in

2/11 ए, स्वदेशी बीमा नगर, आगरा – 282 002 फोन : 4053333, 2531101, 2530966; फैक्स : (0562) 4053330
• Website : www.pdgroup.in • E-mail : care@pdgroup.in
ब्रॉंच ऑफिस : • नई दिल्ली फोन : 011-23251844/66 • हैदराबाद फोन : 040-66753330 • पटना फोन : 0612-2673340 • कोलकाता फोन : 033-25551510

YH-202/2013